हमारे

किसानों का सवाल

[एक सरसरी निगाह]

लेखक

डॉ॰ जैनुल आब्दीन अहमद

भूमिका लेखक

पण्डित जवाहरलाल नेहरू

हिन्दी मंदिर, प्रयाग

प्रकाशक
बृहस्पति उपाध्याय
हिंदी मंदिर, प्रयाग,

तीसरी बार
१६४५
मूल्य
आठ आना

मुद्रक
अमरचंद्र जैन
राजहंस प्रेस
सदर बाजार, दिल्ली

भूमिका

आजकल हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा सवाल किसानों और ज़मींदारों का है—ज़मीन के बारे में क्या क़ानून हों, कौन उसका मालिक हो ? जमींदार मालिक होकर औरों से काम करवाये और उनके काम से लाभ उठावे, या किसान, जो स्वयं खेत में काम करते हैं वह अपनी ज़मीन के मालिक हों या सारी समाज यानी समस्त जनता की मिल्कियत समझी जावे ? इस सवाल के हल करने पर हमारे करोड़ों भाइयों और बहिनों के जीवन पर इसका ज़बरदस्त असर पड़ेगा। इस बड़े प्रश्न के सामने और सब हमारे प्रश्न छोटे हैं। हमारी दरिद्रता इसीसे लिपटी हुई है। इसलिए हमें इस पर अच्छी तरह से विचार करना है।

ग़रीब किसानों से खाली सहानुभूति करना हमारे लिए काफी नहीं है। हमें तो समझना है कि उनकी बीमारी क्या है और उसकी दवा ढूंढनी है। सारे भारत के देहातों में आज कल हल-चल मची है। ग़रीबी और फाक़ेमस्ती और बे-रोज़गारी की बीमारियाँ जनता को सता रही हैं। कैसे इनको दूर करें ?

अकसर लोग कह रहे हैं कि ज़मींदारी की प्रथा को हटाना चाहिए और मेरी भी यही राय है। लेकिन कुछ भी हम करें, हमें प्रश्न को पूरी तौर से समझना है। ज़मींदारी प्रथा क्या चीज़ है ? भारत में कब और कैसे आई ? कितने लोग हमारे देश में ऐसे हैं जो यह जानते हैं कि ज़मींदारी की प्रथा अंग्रेज़ी हुकूमत यहां लाई ? वह पहले नहीं थी। डाक्टर अहमद की यह छोटी-सी पुस्तक इन सब बातों पर रोशनी डालती है और जो इसको पढ़ेगा वह भारत के असली सवालों को ज्यादा समझेगा। इस लिए मुझे खुशी है कि इस पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद हुआ और मैं आशा करता हूं कि हिन्दी जनता में इसके पढ़ने वाले बहुत निकलेंगे।

इलाहाबाद
१६-७-३७

—जवाहरलाल नेहरू

विषय-सूची

प्रस्तावना

दूसरे देशों के मुक़ाबिले में हिन्दुस्तान में जितनी कमी मौजूदा समस्याओं के विषय के पुस्तकों की है, उतनी ही कमी राजनैतिक साहित्य की है। उन्नीसवीं सदी में दादाभाई नौरोजी, डिग्बी, रानडे और रमेश दत्त ने ऐसे साहित्य की मज़बूत और स्थायी बुनियाद खड़ी की थी। उस बुनियाद पर हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन बढ़ा और हममें से ज्यादातर को इन्हीं बड़े-बड़े पुराने आदमियों से अपने राजनैतिक और आर्थिक विचार मिले। उसके बाद बीच का समय खाली गया। पिछले थोड़े-से वर्षों में कुछ पुस्तकें और पुस्तिकाएं फिर निकली हैं। इनमें से कुछ अच्छी भी हैं। परन्तु असली चीज़ की कमी अभी तक बनी हुई है। या तो बहुत ही छोटे-छोटे राजनैतिक खुलासे मिलते है या मिलते हैं अध्यापकों के लिखे हुए भावी अध्यापकों के काम के अर्थ-शास्त्र के बड़े-बड़े पोथे। साधारण समझदार आदमियों की कोई परवाह नहीं करता और आज की दुनिया में जो अन्धकार छाया हुआ है, और जिसका असर हिन्दुस्तान पर भी है, उसमें से कोई रास्ता निकालने में, मामूली लोगों को कुछ भी मदद नहीं दी जा रही। इस हालत का मुक़ाबिला पश्चिमी देशों से किया जाय तो मालूम होता है कि एक-एक सवाल जो उनके सामने है, उसी पर वहां ढेरों अच्छी-अच्छी किताबें मिलती हैं। उनमें से बहुत-सी साफ़तौर पर प्रचार के ढंग की और एक-तर्फा हैं, मगर एक बड़ी संख्या ऐसी पुस्तकों की भी है जो व्यावहारिक विषयों पर लिखी गई हैं और जिनमें आज की दुनिया के हालात के सच्चे चित्र और अंक दिये गए हैं और उनकी आपस में तुलना की गई है।

मौजूदा समस्याओं पर हमारे विचार कुछ भी हों, इतना तो हमें मानना ही पड़ेगा कि उन खयालों का आधार वर्तमान परिस्थिति का व्यावहारिक अध्ययन होना चाहिए। इन विचारों को सच्चाई की कसौटी पर कसने और उनके अनुसार काम करने के कारगर उपाय निकालने का

यही तरीक़ा है। इसलिए अब समय आगया है कि हमारे विशेषज्ञ और विद्यार्थी वास्तविक हालात का अध्ययन करने के काम में लग जायं और उन हालात को ठीक-ठीक रूप में जनता के सामने रखें। कुछ हद तक ऐसा हुआ भी है और हो भी रहा है परन्तु और अधिक होने की ज़रूरत है और एक ऐसे विशाल दृष्टिकोण की आवश्यकता है जिसमें खयाल सब बातों का रखा जाय, भले ही शक्ति एक हिस्से पर ही लगाई जाय।

अवश्य ही हमारी सारी समस्याओं में जितनी बड़ी और तुरन्त ध्यान देने लायक़ किसानों की समस्या है उतनी और कोई नहीं है। हिन्दुस्तान के सारे वातावरण पर किसानों की बुरी हालत का अन्धेरा छाया हुआ है और यह अन्धेरा हमारे एक-एक राजनैतिक और आर्थिक सवाल में घुसा हुआ है। इस बात को अच्छी तरह समझकर ही राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस समस्या का गहरा अध्ययन करने और किसानों सम्बन्धी कार्यक्रम बनाने का काम हाथ में लिया है। इसलिए यह मुनासिब ही है कि हमारी राजनैतिक और आर्थिक पुस्तकमाला का पहला पुष्प इसी समस्या का संक्षिप्त विवेचन हो।[1]

इस पुस्तकमाला का उद्देश्य यह है कि हालात जैसे हों वैसे ही पेश कर दिये जायं, परन्तु यह दावा भी नहीं है कि लेखक का दिमाग़ कोरा और उसमें अनेक अपने कोई विचार ही नहीं हैं। कोरे दिमागों से हमें लाभ भी क्या? इसलिए लेखक के दृष्टिकोण का असर अपने विषय के विवेचन पर भी पड़े बिना नहीं रहा है और उसने जो परिणाम निकाले हैं उन पर भी उसके विचारों की छाप है। यह ज़रूरी नहीं कि यह दृष्टिकोण या ये परिणाम काँग्रेस के-से ही हों।

इस पुस्तकमाला में जिन विषयों पर लिखा जा रहा है उनपर विस्तार पूर्वक विवेचन करने का दावा नहीं किया गया है। न यह दावा ही है कि जिस राजनैतिक और आर्थिक साहित्य का मैंने ज़िक्र किया है उसकी

१ पण्डित जवाहरलाल जी ने यह प्रस्तावना अंग्रेज़ी पुस्तक के लिए लिखी थी जिसका यह अनुवाद है। —प्रकाशक

आवश्यकता पूरी हो जावेगी। इस माला का उद्देश्य बहुत साफ़ और विनम्र है, और वह यह है कि साधारण पाठक को भारतवर्ष की वर्तमान दशा का हाल छोटे रूप में लोकप्रिय और साथ ही विद्वत्तापूर्ण ढँग से बता दिया जाय।

डा० ज़ैनुल आब्दीन अहमद की पुस्तिका उन पुस्तकों में से छोटी-से-छोटी है जो इस कठिन और विशाल समस्या पर लिखी गई है। यह आपत्ति की जा सकती है कि इस पुस्तिका में हिन्दुस्तान की अलग-अलग तरह की ज़मीन के लगान और अधिकार की प्रणालियों की चर्चा विस्तार से नहीं की गई है। मगर शायद ऐसे साधारण वर्णन में विस्तार से चर्चा करने से पुस्तक का महत्व घट जाता है, हम पेड़ों के बीच में लकड़ी को भूल जाते हैं और बहुत से ऐसी तफ़सील से ऊब भी जाते हैं। फिर भी इस तफ़सील का अध्ययन बहुत जरूरी है और आशा की जाती है कि आगे चलकर किसी वक्त इस तरह का विस्तृत वर्णन भी निकाला जावेगा। परन्तु तफ़सील का अध्ययन करने से पहले मोटी-मोटी बातें अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिएं।

इस पुस्तिका में कोई ऐसी नई बातें नहीं हैं जो दूसरी किताबों में न मिल सकती हों, मगर इसलिए कि हम भूल न जायं, पुरानी सच्चाइयों, पुरानी बातों और पुरानी दलीलों को बार-बार दोहराये जाने की ज़रूरत है। और उनका वर्णन भी नये ढांचे में और नये ढंग से ही होना चाहिए। यह काम डा० अहमद ने योग्यता और सफलता के साथ किया है और मुझे इन पन्नों को पढ़ जाने में कुछ भी कष्ट नहीं हुआ, बल्कि लाभ ही हुआ है। मैं सिफ़ारिश करता हूँ कि इस पुस्तिका को न सिर्फ़ कांग्रेसवाले ही पढ़ें बल्कि वे सब लोग भी पढ़ें जो हिन्दुस्तान की इस बड़ी समस्या को समझना और हल करना चाहते हैं।

—जवाहरलाल नेहरू

उपोद्घात

यह सभी लोग मानते हैं कि भारतकी राष्ट्रीय समस्या का केन्द्र किसानों का सवाल है। इस बातको बहुत समय से करीब-करीब सभी हिन्दुस्तानी अर्थ-शास्त्रियों ने स्वीकार किया है और इसकी चर्चा की है। परन्तु यह बात बिलकुल हाल ही की है कि इस समस्या ने राजनैतिक क्षेत्र में अपना जन्म-सिद्ध महत्व प्राप्त कर लिया। कोई चाहे या न चाहे, आज यह सब से बड़ा सवाल है।

राष्ट्रीय दृष्टि के देखने वाले अर्थ-शास्त्रियों ने भी किसानों के सवाल का अभी तक जिस ढंग से विश्लेषण किया है, उसे ठीक-ठीक शब्दों में यों कहा जा सकता है, कि न तो उसमें गति रही है और न वह इतिहास के मुताबिक ही रहा है। इस समस्या पर विचार करते समय ऐतिहासिक विकास के सिलसिले में, जिस प्रकार के आपस में सम्बन्ध बन गए हैं, उसका लिहाज नहीं रक्खा गया।

नये जमाने में हिन्दुस्तान के इतिहास की सबसे प्रमुख घटना ब्रिटिश साम्राज्यवाद का आना है। इस साम्राज्यवाद की बुनियाद योरप की अर्थ-व्यवस्था का पूंजीवादी स्वरूप है। अंग्रेजों के आने के बाद और उन्नीसवीं सदी के शुरू तक भी भारतीय अर्थ-व्यवस्था में देशी उद्योगों और खेती का पुराना मेल बराबर बना रहा। उसके बाद इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति की जीत पर जीत हुई। तभी से ब्रिटिश और भारतीय अर्थ-व्यवस्था में विरोध पैदा हो गया। शोषण की प्रथा चल पड़ी और दोनों में मेल होने की कोई सम्भावना न रही। उसके बाद हिन्दुस्तान की दस्तकारियों का नाश शुरू हुआ और भारतवर्ष की पैदावार का भीतरी-समतोल बिलकुल जाता रहा। हिन्दुस्तान ग्रेटब्रिटेन के अधीन देश के रूप में संसार की अर्थव्यवस्था के घेरे में आ गया। यह एक ऐसी ऐतिहासिक घटना है, जो आज हमारी सारी आर्थिक समस्याओं का केन्द्र बनी हुई है।

अंग्रेजों के औद्योगिक-पूंजीवाद की स्थिति १८५६ तक घर में खूब मजबूत हो चुकी थी। इससे हमारा मतलब यह है कि इंग्लैण्ड मुख्यतः औद्योगिक देश बन चुका था। वह बाहर भेजने के लिए ज्यादातर मशीनों

का बना हुआ माल तैयार करने लग गया था। वहां सब जगह से कच्चा माल खूब आने लगा था और उसने युक्त व्यापार और खुली-स्पर्धा का सिद्धांत स्वीकार कर लिया था। इंग्लैण्डकी राजनैतिक सत्ता जमींदारों और व्यापारियों के हाथ से निकलकर पूंजीपति कारखानेदारों के हाथ में चली गई थी। इन लोगों ने ग्रेट.ब्रिटेन के मातहत देशों-सम्बन्धी पुरानी नीति को इस तरह बदल दिया कि ब्रिटिश उद्योग-धन्धों को लाभ होता रहे। भारतवर्ष पर अंग्रेजों के औद्योगिक पूंजीवाद के सम्पर्क का यह नतीजा हुआ कि हिन्दुस्तान की दूर-दूर तक फैली हुई और फली-फूली दस्तकारियां तेजी से बर्बाद होने लगीं। कपड़ा,धातु,जहाज बनाने और बहुत से दूसरे बढ़िया-बढ़िया उद्योग सब बेदर्दी के साथ नष्ट कर दिये गए। इंग्लैण्ड का पक्का माल धड़ाधड़ आने लगा और उसके बदले में यहां से कच्चा माल खूब जाने लगा। इस तरह सूती कपड़े के १८१४ में १२,६६,६०८ थान हिन्दुस्तान से ग्रेट-ब्रिटेन गये थे और १८३५ में सिर्फ ३,५६,०८६ थान ही गये। इसके मुकाबिले में ब्रिटेन से हिन्दुस्तान में आने वाला सूती माल १८१४—१८३५ के बीच में ८,१८,२०८ गज से बढ़कर ५,१७,७७,२७७ गज हो गया।

हिन्दुस्तान से बाहर जाने वाले सूती माल की कीमत १८१५ में १३ लाख पाउण्ड थी, मगर १८३२ में घटते-घटते १ लाख पाउण्ड ही रह गई। इंग्लैण्ड से हिन्दुस्तान में आने वाले सूती माल की कीमत १८१५ में २६,३०० पाउण्ड थी। परन्तु १८३२ में बढ़ कर ४ लाख पाउण्ड हो गई। भारतीय उद्योग के खिलाफ भेदभाव की जो नीति बरती गई वह नीचे लिखी बातों से देखी जा सकती है :—

१८४० में "जो अंग्रेजी सूती और रेशमी माल ब्रिटिश जहाजों में भरकर हिन्दुस्तान में आया उस पर ३॥ फी सदी चुंगी लगी। ब्रिटेन के ऊनी माल पर सिर्फ २ फी सदी ही लगी। मगर हिन्दुस्तान का जो सूती माल इंग्लैण्ड गया उस पर १० फी सदी कर लगा। हिन्दुस्तान के रेशमी माल पर २० फी सदी और ऊनी पर ३० फी सदी महसूल लिया गया।" ग्रेट-ब्रिटेन में जाने वाले हिन्दुस्तान के एक टन लोहे पर ५ शिलिंग चुङ्गी के देने पड़ते थे और इंग्लैण्ड से हिन्दुस्तान में आने वाले लोहे पर कुछ

भी कर नहीं लगता था। हिन्दुस्तान का जहाज बनाने का उद्योग बहुत पहले ही नष्ट कर दिया गया था।"

" १७९५-९६ में कलकत्ते में ४१०५ टन के छः जहाज बने थे। और ५०० से ६०० टन के ५ बड़े-बड़े जहाज बन रहे थे। १७९७-९८ में कलकत्ते के बन्दरगाह से कई जहाज रवाना हुए।" मगर १८४० के पहले-पहले कलकत्ते में जहाज बनाने का काम बिल्कुल छोड़ दिया गया था [1]।

व्यापारिक दृष्टि से देखा जाय तो यह कहा जा सकता है कि हिन्दुस्तान के पुराने उद्योगों को नाश करने का यह सिलसिला १९-वीं सदी के मध्य तक पूरा हो चुका था। उसके बाद ब्रिटिश साम्राज्य-वाद का यह उद्देश्य रहा कि यंत्र से चलने वाले हिन्दुस्तान के उद्योग को तो बढ़ने न दिया जाय और हिन्दुस्तान की खेती की ऐसी व्यवस्थाकी जाय कि ब्रिटिश कारखानों के लिए कच्चा माल मिलता रहे। इस बात का सबूत भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की आर्थिक नीति से पूरी १९-वीं सदी भर मिलता रहा, और आज भी मिलता है। जब हम १९-वीं सदी की अन्तिम चौथाई में पहुंचते हैं तब हमें यह पता चलता है कि भारत के नये उद्योगों की अलग-अलग शाखाओं का निश्चित विकास पूंजीवादी ढंग पर होने लगा। यह विकास इसलिए हुआ कि भारतवर्ष के पास पूंजी इकट्ठी होगई थी। साम्राज्यवादी विरोध भी इस विकास को न रोक सका।

महायुद्ध के वक्त तक नये उद्योग धीरे-धीरे और आड़े-टेढ़े तरीके पर बढ़े, परन्तु उसके बाद उनका विकास तेजी से होने लगा। इसका कारण यह था कि ब्रिटिश उद्योगों के मुख्य साधन तो लड़ाई की जरूरतें पूरी करने में लग गये और हिन्दुस्तान के उद्योगों को बढ़ने का मौका मिल गया। इसके सिवाय राष्ट्रीय आन्दोलन का राजनैतिक दबाव पड़ने के कारण सरकार को मजबूरन भारतीय कारखानेदारों को थोड़ी सी आर्थिक रिआयतें देनी पड़ीं। फिर भी देश में उद्योगों की वृद्धि इतनी न कुछ हुई कि आज भी देश की ७० फीसदी से अधिक आबादी का गुजर खेती पर ही होता है और देश की सारी पैदावार का ६० फीसदी भाग खेती की पैदावार है। इस

१ 'इण्डिया इन दि विक्टोरियन एज'—रमेश दत्त पृष्ठ १०१,११४।

तरह हिन्दुस्तान को ज़बरदस्ती अंग्रेजी कारखानों के लिए कच्चे माल का पैदा करनेवाला और ब्रिटिश माल का बाज़ार बनाकर रक्खा गया है।

साम्राज्यवादी नीति का खास असर खेती पर यह हुआ कि खेती का महत्व खामख्वाह और बेदर्दी के साथ बढ़ा दिया गया। भारतीय किसान पीढ़ियों से अपनी आवश्यकता का माल पैदा करता रहा है। उसने भी नई राज-सत्ता की तेज़ और टेढ़ी नज़र के मारे व्यापारिक यानी रुपया देने वाली फ़सलों की खेती बढ़ा दी है। रुई, सन, तिलहन और गेहूँ की पैदावार के लिए अधिकाधिक ज़मीन और विशेष ज्ञान काम में लाया गया। इससे किसानों को सहायता ज़रूर मिली क्योंकि उनके घर में अपनी पैदावार की ज्यादा क़ीमत आई। मगर रुपये के लेनदेन की प्रथा व्यापक हो जाने से किसानों को विवश होकर साहूकारों के चंगुल में ज्यादा फँसना पड़ा। संसार भर के बाज़ारों का आपस में सम्बन्ध हो जाने के कारण दलालों, थोक व्यापारियों और बाहर माल भेजने वालों का दल खड़ा हो गया। ये लोग अपनी अच्छी आर्थिक स्थिति के कारण किसानों के लाभ का बड़ा भाग खुद हज़म करने लगे। बर्बाद होने वाले उद्योगों से छूटे हुए क़रीब-क़रीब सारे मज़दूर खेती का धंधा करने लगे और इस तरह धरती का भार बहुत बढ़ गया।

इतना ही नहीं, जैसे-जैसे हिन्दुस्तान दुनिया की पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में शामिल होता गया वैसे-वैसे यहाँ की खेती में भी संसार की माली हालत के उतार-चढ़ाव आने लगे। यहाँ सबसे महत्त्व की बात यह है कि चूँकि हिन्दुस्तान का आर्थिक सम्बन्ध दूसरे देशों के साथ ग्रेट ब्रिटेन के मातहत देश के रूप में हुआ है, इस कारण दुनिया की मण्डी में उसको खास-तौर पर असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। उसके हाथ में अपनी खुद की आर्थिक नीति स्वतंत्र होकर बनाने की सत्ता तो है नहीं, इसलिए वह अपने ही भले के लिए कोई आर्थिक तरकीबें भी नहीं कर सकता था और उसे ब्रिटिश सामाज्यवाद के आर्थिक खेल में कठपुतली बनकर रहना पड़ता है। साथ ही कई कारणों से हिन्दुस्तान में और देशों से खेती की पैदावार बहुत थोड़ी और घटिया होती है। इन कारणों में सबसे

बड़ा कारण यह है कि खेती की पैदावार पर गुज़र करनेवालों के बीच खाऊ लोगों का ज़बर्दस्त दल बन गया है।

इस प्रकार संसार की मौजूदा उथल-पुथल से हिन्दुस्तान को ख़ास-तौर पर धक्का पहुंचा है। दुनिया में सब जगह ज़रूरत से ज्यादा पैदावार होने से भाव इस बुरी तरह गिर गए हैं जितने पहले कभी नहीं गिरे थे। परन्तु खेती की पैदावार का भाव पक्के माल के भाव से ५० फ़ीसदी अधिक गिरा है। इसके अलावा रुपये को पाउण्ड के साथ बाँध देने से, पाउण्ड के सोने के विनिमय से हट जाने से और रुपये की विनिमय की दर एक शिलिंग चार पैंस से एक शिलिंग छः पैंस कर देने से भारतीय कृषकवर्ग की हालत और भी बिगड़ गई है। इससे भारतवर्ष का लेना कम और देना ज्यादा हो गया है और उसे बाहरवालों का देना चुकाने के लिए विवश होकर बहुतसा सोना बाहर भेजना पड़ा। नीचे लिखे अंकों से यह बात समझ में आ जायगी:—

(दस लाख रुपयों में)

	१९२९	१९३०	१९३१	१९३२	१९३३
ख़ालिस अधिक निर्यात	८६०	७९०	६२०	३४८	३४
ख़ालिस सुवर्ण आयात	२१२	१४३	१२५	...	....
ख़ालिस सुवर्ण निर्यात	...	...	...	५८०	६८३

इससे ज़ाहिर है कि ग्रेट ब्रिटेन मौजूदा उथल-पुथल से होनेवाले अपने बोझे का ख़ासा हिस्सा हिन्दुस्तान के सिर मढ़ सका है। और वह इस तरह कि उसने इस देश से कच्चा माल बहुत ही नीचे भावों में ले लिया है।

हिन्दुस्तान के किसानों की हालत पहले ही निराशाजनक दरिद्रता की थी। इन कार्रवाइयों से उनकी ख़रीदने की शक्ति बिलकुल नष्ट हो गई।

डेढ़ सौ वर्ष के अंग्रेज़ी राज्य में यह सिलसिला बराबर जारी रहा है कि अधिकाधिक लोग खेती का सहारा लेने लगे हैं, उनके गुजर के और सब साधन छिन गए हैं, वें समाज के मुफ्तखोर लोगों के पंजे में फंसते जा रहे हैं और उन्हें सहानुभूति-शून्य शासन की सख्तियाँ सहनी पड़ती हैं। अगले पन्नों में हम भारतीय किसानों की वर्तमान आर्थिकस्थिति का विश्लेषण करेंगे।

—लेखक

किसानों का सवाल

: १ :

धरती का भार

इस समय हिन्दुस्तान की खेती का खास लक्षण यह है कि बहुत अधिक लोग उसी पर गुज़ारा कर रहे हैं। इसका नतीजा यह हुआ है कि खेती की ज़मीन के बहुत ही छोटे-छोटे टुकड़े हो गए हैं और उनसे गुज़र होना अत्यन्त कठिन हो गया है। १८८० के अकाल कमीशन ने यह राय दी थी कि "ज़मीन की पूरी काश्त के लिए जितने लोगों की वास्तव में ज़रूरत है उससे बहुत अधिक लोग खेती करने लग गए हैं। और उनके पास दूसरा कोई धन्धा नहीं है।" नीचे लिखे अंकों से यह बात ज़ाहिर होगी कि उस समय से धरती पर आबादी का भार कितनी तेजी के साथ बढ़ता रहा है। १८८१ में ५८ फ़ीसदी लोग खेती पर निर्भर रहने वाले थे। यह संख्या बढ़ते-बढ़ते १८९१ में ६१.०६, १९०१ में ६६.५ और १९२१ मे ७१.६ हो गई। खेती सम्बन्धी शाही कमीशन का ख़याल है कि ७३.९ फ़ीसदी लोगों की गुज़र खेती से होती है। यह बात ध्यान देने लायक़ है कि यूरप के बहुत-से देशों में खेती में लगे हुए लोगों की संख्या इस काल में बराबर घटती गई है। इस तरह फ्रांस में खेती पर गुज़र करने वाले लोगों का अनुपात १८७६ और १९२१ के बीच में ६७.६ से घटकर ५३.६ रह गया, जर्मनी में १८७५ और १९१९ के बीच में ६१ से ३७.८ हो गया, इंग्लैण्ड और वेल्स में १८७१ और १९२१ के दरमियान ३८.२ से २०.७ हो गया और डेनमार्क में १८८० और १९२१ के बीच में ७१ से ५७ फ़ीसदी रह गया।

याद रहे कि ५० बरस पहले भारतवर्ष में खेती करने वाले लोगों का अनुपात फ्रांस, जर्मनी और डेनमार्क से कम था। मगर जहाँ यूरप के ये देश बराबर उद्योग धन्धे बढ़ाते रहे और अपने यहाँ ज़मीन का बोझ

हलका करते रहे वहाँ हिन्दुस्तान में उल्टी ही प्रगति हुई। जब यूरप औद्योगिक क्रान्ति के बीच में होकर गुज़र रहा था तब हिन्दुस्तान के उद्योग तेज़ी से नष्ट हो रहे थे और वह निरा कृषि प्रधान देश बनता जा रहा था। भारतवर्ष की गाँवों और शहरों की दस्तकारियाँ नष्ट हो जाने से उन पर गुज़र करनेवाले अधिकांश लोगों को ज़मीन का सहारा लेना पड़ा। १६वीं सदी के पूर्वार्द्ध के बाद थोड़े से आधुनिक उद्योग इस देश में ज़रूर बढ़े, मगर जो लोग देशी उद्योगों से छुटे हुए थे। उनका बहुत ही नगण्य भाग इन नये कारखानों में खप सका। अपने पैतृक धन्धे छोड़नेवाले अधिकांश दस्तकार छोटे पैमाने पर माल तैयार करते थे, उनके पास ज़मीन खरीदने के लिए पूँजी नहीं थी और इस कारण उनकी स्थिति सिर्फ़ खेती के मज़दूरों की रह गई। इस प्रकार पिछले ५० वर्ष में इन बेज़मीन खेती के मज़दूरों की संख्या तेज़ी से बढ़ती रही है। अनुमान यह है कि आज कल खेती पर गुज़र करनेवाली सारी आबादी में से ३३ फ़ी सदी ये मज़दूर हैं। जहाँ १६२१ में खेती के मज़दूरों की संख्या १००० में से २६१ थी वहाँ १६३१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार यह संख्या ४०७ हो गई। इनमें से अधिकांश की अपनी ज़मीन नहीं है। दस साल के भीतर इस संख्या में इतनी मार्के की वृद्धि होना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि किसानों की संख्या बड़ी तेज़ी के साथ बढ़ रही है।

यहाँ यह बता देने में कोई हर्ज नहीं कि आज भी हिन्दुस्तान में ज़मीन की बहुत ज्यादा कमी नहीं है। सारी ज़मीन के सिर्फ़ ३४.२ हिस्से में ही दरअसल खेती होती है। ३५.२ हिस्से की ज़मीन में खेती नहीं हो सकती। उसे छोड़ दें तो भी ३०.६ फ़ी सदी धरती फिर भी ऐसी बचती है जिसमें खेती हो सकती है। सिन्ध और पंजाब में बड़ी उपजाऊ भूमि के बड़े-बड़े भाग ऐसे पड़े हैं जिन्हें सिर्फ़ पानी की आवश्यकता है, परन्तु सरकार इन प्रदेशों में सिंचाई की व्यवस्था नहीं करना चाहती। इसके सिवाय नये प्रदेश में खेती का काम जारी करने के लिए पूँजी की ज़रूरत होती है और कर्ज़ के भार से दबे हुए भारतीय किसानों के पास शुरू में लगाने के

लिए आवश्यक पूँजी है नहीं। सरकार का इस समस्या की तरफ़ बिलकुल ध्यान नहीं है। इसलिए वह किसी भी तरह की आर्थिक सहायता नहीं देती। खेती करनेवाले लोगों की संख्या बुरी तरह बढ़ जाने से खेतों के छोटे-छोटे और बेशुमार टुकड़े हो गए। डा० हेरॉल्ड मैन की राय है कि ज़मीन के छोटे-छोटे टुकड़े होना 'सचमुच बुराई' है और यह बुराई अंग्रेज़ों के जमाने में खूब बढ़ी है। उन्होंने सिद्ध किया है कि जिस गांव की स्थिति का उन्होंने अध्ययन किया है उसमें एक किसान के क़ब्ज़े में जहाँ १७७१ में औसतन् ४० एकड़ भूमि थी वहाँ १९१५ में घटकर ७ एकड़ ही रह गई। वह कहते हैं—"यह प्रकट है कि पिछले साठ सत्तर साल में एक किसान के कब्ज़े में होनेवाली ज़मीन का आकार बिलकुल बदल गया है। अंग्रेज़ों के पहले और ब्रिटिशराज्य के प्रारम्भिक काल में एक-एक किसान के पास काफ़ी ज़मीन होती थी और वह बहुधा नौ-दस एकड़ से अधिक होती थी। दो एकड़ से कम ज़मीन तो किसी किसान के पास शायद ही होती हो। अब इस ज़मीन के दुगुने से अधिक भाग हो गए हैं और इन भागों में से ८१ फ़ी सदी भाग १० एकड़ से और कम से कम ६० फ़ी सदी भाग ५ एकड़ से छोटे हैं।"

नीचे लिखे अंकों से पता लगेगा कि हिन्दुस्तान में ज़मीन के कितने छोटे-छोटे टुकड़े हो गए हैं। युक्तप्रान्त में प्रत्येक किसान के पास खेती की ज़मीन का २.५ एकड़ का औसत पड़ता है। बंगाल में औसत ज़मीन का आकार ३.१ एकड़ है। आसाम में ३ एकड़, बिहार-उड़ीसा में ३.१ एकड़, मद्रास में ४.९ एकड़, मध्यप्रान्त में ८.५ एकड़, पंजाब में ९.२ एकड़, और बम्बई में १२.२ एकड़ है। मगर इन औसतों से स्थिति का सच्चा चित्र हमारे सामने नहीं आता क्योंकि इनमें छोटे-बड़े कई आकारों की ज़मीनें शामिल हैं। नीचे लिखे अंकों से यह बात साफ़ ज़ाहिर होगी कि बहुत छोटी-छोटी ज़मीनों की संख्या कितनी बढ़ गई है और उनके कारण कितनी दरिद्रता छा गई है। १९२६ के भारतवर्ष के कृषि-पत्र (Agricultural Journal of India) में ब्रिटिश भारत की इन ज़मीनों का आकार इस तरह दिखाया गया है:—

१ एकड़ या उससे कम	२३ फ़ी सदी
१ से ५ एकड़	३३ फ़ी सदी
५ से १० एकड़	२० फ़ी सदी
१० एकड़ से अधिक	२४ फ़ी सदी

पंजाब भारतवर्ष का एक अत्यन्त सम्पन्न कृषि-प्रधान प्रान्त समझा जाता है। वहां के हालत का शाही कृषि कमीशन ने यह खुलासा दिया है—"हमें किसी प्रान्त के अंक मिले हैं तो सिर्फ़ पंजाब के मिले हैं। उनसे पता चलता है कि २२.५ फ़ी सदी किसान एक एकड़ या इससे कम ज़मीन की खेती करते हैं, १५ फ़ी सदी किसान १ और २½ एकड़ के बीच में करते हैं, १७.६ फ़ी सदी २½ और ५ एकड़ के बीच में करते हैं और २०.५ फ़ी सदी किसान ५ से १० एकड़ की खेती करते हैं।" श्री भल्ला ने बैरमपुर (पंजाब) नामक गांव की जाँच की है। उससे पता चलता है कि बैरमपुर में ५५ फ़ी सदी ज़मींदारों के पास ३ एकड़ से कम ज़मीन है और २३ फ़ी सदी किसान ६ एकड़ से कम की खेती करते हैं। पंजाब के २३६७ गांवों की एक और जांच से मालूम होता है कि सारी ज़मीन के १७.६ फ़ी सदी भाग पर लोगों के पास एक-एक एकड़ से भी कम की खेती है, २५.५ फ़ी सदी लोगों के पास एक और ३ एकड़ के बीच की खेतियां हैं, १४.६ फ़ी सदी के पास ४ से ५ एकड़ ज़मीन है और १८ फ़ी सदी के पास ५ से १० एकड़ की खेती है।

बम्बई में औसत व्यक्तिगत खेतियां सब से बड़ी हैं। मगर वहाँ भी बहुत अधिक किसानों के पास दो तीन एकड़ से कम ही ज़मीन है। यह भी देखा गया है कि ५ एकड़ से कम की खेतियों की संख्या जल्दी-जल्दी बढ़ रही है। १६२७ में शाही कृषि-कमीशन के सामने जो गवाहियाँ हुईं उनसे प्रकट हुआ कि बम्बई प्रान्त के सम्पन्न ज़िलों में से एक में १६१७ और १६२२ के बीच १५ एकड़ से कम ज़मीन की खेतियों की संख्या बुरी तरह बढ़ गई और २५ और १०० एकड़ के बीच की खेतियाँ घट गईं।

मद्रास प्रान्त में विशेष जाँच से मालूम हुआ है कि एक एकड़ से कम की जो बहुत सी ज़मीनें वहाँ हैं उनमें ज्यादातर खेती होती है और नियमित रूप से होती है।

बिहार और उड़ीसा के किसानों के पास जो भाड़े की ज़मीन है उसका औसत आकार आधे एकड़ से भी कम है।

कानपुर ज़िले में श्री बाबूराम मिश्र ने एक गांव की स्थिति की जांच की है। उससे मालूम होता है कि उस गांव के २५० किसानों में से १४० एक एकड़ की, ५० दो एकड़ की, ४२ तीन-चार एकड़ की, १६ पांच-छः एकड़ की और १४ दस एकड़ की खेती करते हैं। किसी किसान के पास भी १५ एकड़ से अधिक धरती नहीं है। घरू ज़मीन तो एक भी किसान के पास नहीं है।

इसी तरह की जांच श्री जयकृष्ण माथुर ने गोरखपुर ज़िले के एक गांव की आर्थिक स्थिति के बारे में की है। उससे पता चलता है कि औसत खेती की ज़मीन ०.२६ एकड़ की है, हरएक आदमी औसत ०.२७ एकड़ की खेती करता है। और हर किसी के क़ब्ज़े में औसत ०.५२ एकड़ धरती है।

युक्त प्रांत के बन्दोबस्त विभाग की पिछली रिपोर्ट के अनुसार सिधुआ जोबना परगने में प्रत्येक किसान के पास औसत १.३ एकड़ ज़मीन है। हाटा में .६ एकड़ और सलीमपुर .६५ एकड़ है।

युक्त प्रांत की साहूकारी जांच कमेटी ने तसदीक़ किया है कि ५६ फ़ीसदी खेतियाँ ऐसी हैं जिनसे या तो सिर्फ़ गुजर हो सकता है या वह भी नहीं हो सकता। सारे भारतवर्ष को देखें तो ७६ फ़ीसदी खेतियाँ १० एकड़ से कमवाली हैं और १५.४ एक एकड़ से भी कम हैं।

बटवारा होने पर सभी जगह खेती की ज़मीन के बहुत ही छोटे-छोटे टुकड़े हो जाते हैं। एक ज़मीन के कई छोटे-छोटे हिस्से इस तरह भी हो जाते हैं कि एक जगह न होकर दूर-दूर बिखरे हुए हों। जहाँ पैतृक सम्पत्ति का यथासम्भव समान विभाजन करने की प्रणाली होती है वहाँ ज़मीन के छोटे-छोटे टुकड़े हो जाना स्वाभाविक बात है। उपजाऊपन के हिसाब से पैतृक ज़मीनों में अन्तर हो सकता है और हरएक वारिस को अलग-अलग

तरह की ज़मीनों का हिस्सा दिया जाता है। नतीजा यह होता है कि एक के बाद दूसरे में ज़मीन के छोटे-ही-छोटे टुकड़े होते चले जाते हैं। नीचे लिखे अंकों से पता चलता है कि हिन्दुस्तान में ज़मीन के टुकड़े होने की यह क्रिया किस हद तक पहुँच गई है।

डा० हेरॉल्ड मैन को पिंपला-सौदागर नामक गाँव की जाँच के सिल-सिले में पता चला है कि १५६ किसानों के क़ब्ज़े में ७२६ ज़मीन के टुकटे थे। इनमें ४६३ एक एकड़ से कम के थे। और ११२ चौथाई एकड़ से कम के थे। कोंकण के कुछ ज़िलों में और ख़ास तौर पर रत्न-गिरी में एक-एक टुकड़े का आकार ०.००६२५ एकड़ या ३० $\frac{1}{4}$ वर्ग गज़ जितना छोटा है।

पञ्जाब के बैरमपुर गांव में जिसकी जांच श्री भल्ला ने की है—"गांव की ज़मीनें १५६८ खेतों में बँटी हुई पाई गईं। इनमें से हरएक लगभग $\frac{1}{4}$ एकड़ की है। २८ फ़ीसदी खेतियों में ३०-३० से भी अधिक खेत हैं। तीन खेतियों में खेत इतने छोटे-छोटे थे—छोटे से छोटा खेत .०१४ एकड़ का था—कि उनके मालिकों को उनका ख़याल तक नहीं रहा और वे दूसरे के हाथ में चले गए। कुओं के भी हिस्से हो रहे और एक आदमी का हिस्सा इतना छोटा हो सकता है जितना कि सिक्के के विनिमय में होता है।" पञ्जाब में ज़मीन के टुकड़े कहाँ तक हुए हैं, इस सम्बन्ध में डार्लिंग कहता है कि जालन्धर ज़िले में "एक गाव की १२,८०० एकड़ जमोन ६३,००० खेतों में बंटी हुई है। दूसरे गांव में ५८४ किसान १६,००० खेतों की काश्त करते हैं। इन खेतों का औसत आकार सिर्फ़ $\frac{1}{4}$ एकड़ है। तीसरे गांव में एक-एक माली के यानी .००६ एकड़ से भी कम के ४२४ खेत हैं।"

यह बुराई बम्बई या पंजाब तक ही सीमित नहीं है बल्कि सारे भारत-वर्ष में बहुत ही बढ़े हुए रूप में पाई जाती है। आकार और स्वरूप के लिहाज़ से और वैज्ञानिक तरीक़े पर इकट्ठी की हुई खेतियां तो लगभग मिलती ही नहीं। ऐसी ज़मीन क्वचित ही मिलती है जिसके कम-से-कम तीन चार टुकड़े और वह भी दूर-दूर बिखरे हुए न हों।

बटवारे से जो आर्थिक बुराइयाँ होती हैं वे ज़मीन के छोटे-छोटे

टुकड़े करने से और भी बढ़ जाती हैं। जब किसानों के पास थोड़ी ज़मीनें हों और उन्हें भी जरा-जरा से टुकड़ों में बांट दिया जाय तब बड़े पैमाने पर और बढ़िया खेती असम्भव हो जाती है। भारतवर्ष के छोटे-छोटे किसानों के पास ज़मीन में लगाने के लिए पूंजी नहीं होती। उनका खेती का ढंग वही पुराना है। एक के बाद दूसरी फ़सल जितनी जल्दी-जल्दी और नई-नई होनी चाहिए, नहीं होती। उन्हें खाद देने और पशु पालने का वैज्ञानिक तरीक़ा भी मालूम नहीं और मुनाफ़े की गुंजाइश इतनी कम रहती है कि फ़सल खराब होने पर किसानों की पूरी बर्बादी हो जाती है। इन बुराइयों के अलावा ज़मीन के छोटे-छोटे टुकड़े होने से सीमा के लिए बहुत-सी ज़मीन बेकार हो जाती है। खेती की देखभाल पूरी तरह नहीं हो पाती और एक खेत से दूसरे खेत जाने आने, हदबन्दी के झगड़ों और फिर मुक़दमेबाजी में मेहनत, समय और रुपया भी बरबाद होता है। यह ध्यान में रखने की बात है कि किसानों के पास इतनी छोटी-छोटी ज़मीनें होने से खेती में तो कुछ सार रहता ही नहीं है, किसानों के लिए काफ़ी संख्या में पशु रख सकना भी असम्भव हो जाता है। नीचे लिखी तालिका में गोरखपुर, मेरठ और लखनऊ डिवीजनों में एक-एक खेती पर जितने पशु हैं उनकी संख्या दी जाती है। इससे यह बात समझ में आ जायगी।[1]

	हल और गाड़ी के बैल	गायें और भैंसें
गोरखपुर	१.२	१.३
मेरठ	२.०	२.१
लखनऊ	२.१	२.१

लगभग सारे भारत में इन वर्षों में दूध देनेवाले पशुओं और दूसरे चौपायों की संख्या घट रही है। कुछ प्रदेशों में पशु-समस्या बहुत विकट हो गई है। धरती का भार बढ़ जाने से पशुओं के चरने के लिए ज़मीन बहुत कम रह गई है और इससे खेती के जानवरों की सचमुच कमी हो गई

1. "The pressure of population. Its effect on Rural Economics in Gorakhpure District" by Jai Krishna Mathur. Introduction page 111.

है। इसके सिवाय पूरा खाने को न मिलने से मवेशियों की शक्ति घट गई है और उनसे जितना और अधिक काम होना चाहिए उतना नहीं हो पाता। किसान का जीवन बहुत कुछ उसके चौपायों पर निर्भर रहता है। साधारण किसान के लिए चौपायों का न होना ही मौत है। बहुत से किसानों के पास अपने पशु ही नहीं होते। उन्हें बोवाई के दिनों में ऊँचे-ऊँचे भाड़े पर बैल लाना पड़ता है। ऐसे कुटुम्बों को संख्या भी थोड़ी नहीं है जिनके पास बैल किराये करने के साधन भी नहीं होते। वे बेचारे अपनी रद्दी-सद्दी ज़मीन से किसी तरह आजीविका पैदा करने के लिए फावड़े से काम लेते हैं।

इन हालतों में क्या आश्चर्य है अगर हिन्दुस्तान में प्रति एकड़ औसत पैदावार दुनिया भर में सब से कम होती हो। १९२२ के इन आंकड़ों से यह बात समझ में आ जायगी :—

देश	गेहूँ बुशल ६० पौण्ड का	अनाज बुशल ५६ पौण्ड का	जौ बुशल ४८ पौण्ड का	चावल पौण्डों में	रुई पौण्डों में	तम्बाकू पौण्डों में
कनाडा	१७.८	४३.४	२७.६	……	……	……
अमेरिका	१३.९	२८.३	२४.९	१,०९०	१४१.०	७३५.६
इंगलैण्ड	३१.२	……	३१.०	……	……	……
डेन्मार्क	३९.०	……	४५.६	……	……	……
फ्रांस	१८.६	१६.९	२३.९	……	……	१,४२६.१
जर्मन	२०.५	……	२५.७	……	……	२,६३९.२ (१९२१)
इटली	१४.१	२०.२	१४.३	२,१५१	……	९१७.६
मिस्र	२४.१	३६.३	३०.१	१,४५६ (१९२१)	२९९.० ३५२.०	……
भारत	१३.०	१५.६	१९.८	९११	९८.०	……
जापान	२२.५	२७.७ (१९२१)	३१.७	२,४७७	……	……
अस्ट्रेलिया	११.२	२५.७	२१.३ (१९२१)	……	……	……

यह अनुमान लगाया गया है कि महायुद्ध के पहले के साधारण हिसाब से सिंचाई की पैदावार को मिलाकर भी ब्रिटिश भारत की औसत पैदावार फ़ी एकड़ पच्चीस रुपये से अधिक नहीं हो सकती। जापान में यही पैदावार डेढ़ सौ रुपये से कम नहीं हो सकती।' (सर एम० विश्वेश्वरैया)

यह मानने का कोई कारण नहीं है कि इन वर्षों में हिन्दुस्तान की ज़मीन खराब हो रही है। शाही कृषि-कमीशन के सामने गवाही देते हुए भारत सरकार के खेती के सलाहकार डॉ० क्लौस्टन ने कहा था, "अधिकांश भारतीय ज़मीनों की उपजाऊ शक्ति जितनी घटनी थी वह सैकड़ों वर्ष पहले ही घट चुकी थी और अगर अब आगे सैकड़ों साल भी वह खाद दिये बिना जोती जाय, तो उसका कुछ भी बिगड़नेवाला नहीं हैं। औसत फसल फ़ी एकड़ क़रीब २० पौण्ड नाइट्रोजन (Nitrogen) खाती है, मगर यह कमी हर साल पूरी होती रहती है, क्योंकि ज़मीन को नाइट्रोजन हवा से भी मिलता है और फ़सल काटने के बाद जो जड़ें जमीन में रह जाती हैं उनके सड़ने से भी मिलता रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि अधिकांश जमीनों में नाइट्रोजन की कमी नहीं हो रही है।"

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इंग्लैण्ड और जर्मनी में ५० फ़ी सदी जमीनें ५० एकड़ से ऊपर की हैं और १ और ५ एकड़ के बीच की जमीनें इंग्लैण्ड में केवल १.१ फ़ी सदी और जर्मनी में ४.३ फ़ी सदी हैं। भारतवर्ष का हाल तो ऊपर बताया ही जा चुका है कि यहाँ ७६ फ़ी सदी से अधिक जमीनें १० एकड़ से कम की हैं और १५.४ फ़ी सदी ज़मीनें १ एकड़ या उससे भी कम की हैं। अगर यह बात ध्यान में रखी जाय कि इंग्लैण्ड और जर्मनी में प्रति एकड़ पैदावार भी हिन्दुस्तान से कहीं अधिक है तो यह तुलना और भी मार्के की हो जाती है। हमें यहां पर यह भी समझ लेना चाहिए कि कितनी बड़ी होने से एक जमीन आर्थिक दृष्टि से काफ़ी समझी जाय, यानी मामूली साल में और खेती के मौजूदा उपायों से एक किसान कुटुम्ब का हिन्दुस्तानी ढंग पर

बिना और उधार लिये आराम के साथ गुज़र हो सके। यहां भारतवर्ष के कुछ कृषि-विशेषज्ञों की इस विषय पर राय बता देना काफी होगा। कीटिंग 'दक्षिण की ग्रामीण व्यवस्था' नामक अपनी पुस्तक में आर्थिक खेती की व्याख्या इस तरह करता है—"ऐसी खेती जिसमें किसान को आवश्यक खर्च पूरे करने के बाद अपना और अपने कुटुम्ब का उचित आराम के साथ भरण-पोषण करने लायक पैदा करने का मौक़ा मिल सके।" कीटिंग यह भी कहता है कि "दक्षिण में आदर्श-खेती वह होती है जिसमें एक ही जगह ४०-५० एकड़ मज़े की ज़मीन हो, कम-से कम एक अच्छा सिंचाई का कुआं हो और खेत पर घर हो।'..........'दक्षिण के सूखे भाग में, जहाँ जमीन हल्की हो, ३० एकड़ से काम नहीं चल सकता।"

युक्तप्रान्त के हालात के बारे में स्टेनली जीवन्स का ख़याल है कि लगभग ३० एकड़ की खेती एक कुटुंब को साधारण आराम से रखने के लिए काफ़ी है। इन अंकों में अत्युक्ति की भूल नहीं हो सकती, क्योंकि आज-कल ऐसी खेती करनेवाले कुटुम्बों में से भी बहुत थोड़े कुटुम्ब भारी कर्ज से मुक्त पाये जाते हैं। डा० ई० डी० लूकस ने होशियारपुर ज़िले के बैरमपुर गाँव की आर्थिक जांच की थी। किसान कुटुम्बों के आय-व्यय की विस्तृत खोज के बाद वह इस नतीजे पर पहुँचे कि क़र्ज़ लिये बिना १४ एकड़ ज़मीन से एक जाट कुटुम्ब का गुज़र नहीं हो सकता। डार्लिगं की यह राय है कि पंजाब में किसान को जब तक किसी और ज़रिये से आमदनी न हो, आठ-दस एकड़ से आराम के साथ उसकी गुजर नहीं हो सकती।

: २ :

गाँवों की दरिद्रता

अब हम आगे बढ़ें और भारतीय किसानों की आर्थिक स्थिति की ज्यादा तफ़सील से जाँच करें। १८७० की पुरानी बात है। दादाभाई नौरोजी ने उस समय यह साबित करने का प्रयत्न किया था कि भारतवर्ष के साधारण लोग आधे भूखे रहकर गुज़र कर रहे हैं। उन्होंने हिसाब

लगाया था कि हिन्दुस्तान में प्रत्येक आदमी की औसत सालाना आमदनी २० रुपया है। वह यह भी कहते हैं:—"यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि हरेक ग़रीब मज़दूर को औसत पैदावार का पूरा हिस्सा नहीं मिलता है। ऊँचे और मध्यम वर्गों को बहुत बड़ा भाग मिलता है और गरीब वर्गों को बहुत छोटा, और रहन-सहन का कम-से-कम खर्च आमतौर पर औसत हिस्से से अधिक होता है। भारतवर्ष के सर्व साधारण की दशा ऐसी दिखाई देती है। उन्हें जीवन की कम-से-कम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी काफी साधन नहीं मिलते।"

१८८० में सरकारी हिसाब लगाकर देखा गया तो प्रत्येक किसान की औसत आमदनी १८ रुपया पाई गई। १८८२ में अर्ल क्रोमर और डेविड बरबर ने यह अन्दाज लगाया था कि यहाँ के लोगों की वार्षिक आय प्रति व्यक्ति सरासरी २७) रुपया है।

डिग्बी 'सम्पन्न ब्रिटिश भारत' (Prosperous British India) नामक अपनी पुस्तक में इस परिणाम पर पहुँचे थे कि सारे ब्रिटिश भारत की आबादी को देखा जाय तो फ़ी आदमी १७ रुपये ४ आने वार्षिक आय हैं। धनिक वर्ग की आमदनी की गुंजाइश रखने के बाद उसने हिसाब लगाया था कि भारतीय किसान की औसत सालाना आमदनी १२ शिलिंग या ६ रुपये हैं। उसने यह भी कहा, "इससे एक पेंस रोज़ का भी नहीं पड़ता। इस आमदनी को बराबर-बराबर बाँट दिया जाय तो उससे अच्छी तरह गुजर नहीं हो सकती। इससे तो पश्चिमी देशों की बड़ी पशु-शालाओं के मवेशियों का भी काम नहीं चल सकता।"

१९०१—२ में लॉर्ड कर्जन ने यह हिसाब लगाया था कि किसानों की आमदनी प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष २०) है और सारी जनसंख्या की ३०) रुपया है।

श्री वाड़िया और श्री जोशी ने हिसाब लगाकर बताया है कि १९१३-१४ की साल में भारतवर्ष के लोगों की प्रति व्यक्ति ४४ रु० ५ आ० ६ पाई आय थी।

श्री शाह और श्री खम्बाटा ने प्रति व्यक्ति स्थूल आय का यह हिसाब बताया है कि १६०० से १६१४ तक ३६) आय रही, १६१४ से १६२२ तक ५८½ रुपया रही, १६०० से १६२२ तक ४४½ रुपया रही और १६२०, १६२२ में ७४ रुपया रही। (अगर होम चार्ज यानी हिन्दुस्तान से लिये जाने वाला अंग्रेज़ों का वार्षिक खर्च निकाल दिया जाय तो यह आय ६७ रुपया थी।) याद रहे कि १६२२ की बड़ी रकम बढ़ी हुई सम्पन्नता प्रकट नहीं करती है, बल्कि उसका कारण यह था कि लड़ाई के बाद रुपये की क़ीमत असाधारण तौर पर बढ़ जाना था।

हाल में जो जाँच पड़तालें हुईं, उन्हें देखा जाय तो केन्द्रीय साहूकारी-जाँच कमेटी का कहना है कि "प्रान्तीय कमेटियों की रिपोर्टों और दूसरे प्रकाशित अंकों से मालूम होता है कि १६२८ के भावों के आधार पर खेती की सालाना पैदावार की कुल स्थूल कीमत १२ अरब रुपयों के क़रीब होती है। इस बात के साथ-साथ यह भी ख़याल रक्खा जाय कि कुछ सहायक धन्धों से किसानों को शायद अपनी खेती की आमदनी का बीस फ़ीसदी भाग और मिल जाता है। यह भी ख़याल न रखा जाय कि पिछले दस साल में आबादी बढ़ी है और १६२८ से भाव घट गए हैं तो भी औसत आमदनी लगभग ४२ रुपये या तीन पाउण्ड सालाना से ज्यादा नहीं पाई जाती। इस प्रकार आमतौर पर किसानों की निर्धनता में कोई सन्देह नहीं रह जाता।"

ध्यान रहे कि यह हिसाब १६२८ के भावों के आधार पर लगाया गया है और तब से खेती की पैदावार की क़ीमत कम-से-कम ५० फ़ीसदी घट गई है। इस प्रकार अगर हम १६२१ से होने वाली जनसंख्या की वृद्धि का ख़याल न करें तो भी आज किसानों की फ़ी आदमी औसत सालाना आमदनी २०) से अधिक नहीं निकलेगी। इसके अलावा इन औसत आमदनियों में बहुत बड़ी-बड़ी आमदनियाँ भी तो शामिल हैं। सारे जोड़ में से इन्हें निकाल दिया जाय तो जो ७६ फ़ीसदी किसान १० एकड़ से भी कम की खेती करते हैं। उनकी आमदनी इतनी कम निकले कि उस पर विश्वास भी नहीं हो सकता।

लायलपुर के सरकारी कृषि कॉलेजवाले सरदार करतारसिंह ने Farm Accounts in the Punjab (पञ्जाब की खेती का हिसाब) नामक पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने पंजाब के ९ ज़िलों की कुछ सम्पन्न खेतियों की आमदनी का ब्योरेवार हिसाब लगाया है। उन्होंने जो आँकड़े निकाले हैं वे नीचे दिये जाते हैं। ये बड़े चौंकाने वाले और महत्वपूर्ण आँकड़े हैं क्योंकि पंजाब भारतवर्ष में सब से सम्पन्न और खेती में सबसे बढ़ा हुआ प्रान्त समझा जाता है।

नीचे लिखे नक्शे में अलग-अलग ज़िलों के किसानों की एक एकड़ की ख़ालिस आमदनी यह समझकर दिखाई गई है, मानों सारी ज़मीन किसानों के ही क़ब्ज़े में हो:—

ज़िला	आमदनी								
	१९२८–२९			१९२९–३०			१९३०–३१		
	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०
लायलपुर	५३	१४	३	४४	६	७	११	१४	११
सरगोधा	३५	३	७	१२	७	१०	३	६	२
मोंटगोमरी	४२	११	७	३२	०	९	९	१	८
अमृतसर	६४	५	५	२७	१२	०	७	१५	२
रोहतक	३१	०	०	१८	०	३	१३	१	५
मुलतान	१४	११	६	१३	९	९	१०	१५	६
जालन्धर	३८	१२	०	२३	१३	६	११	१२	९
होशियारपुर	२०	७	७	३१	७	७	१२	१०	४
लुधियाना	२१	३	३	१२	४	४	३	१	२
औसत									
नहरी बस्तियों में	५३	०	२	४२	१५	२	११	५	७
अच्छी सिंचाई से	३२	२	०	१८	७	६	९	२	९
योग	४०	७	८	३६	१२	९	१०	१४	२
रिसालेवाला छोड़कर									

नहरी बस्तियाँ	३३	११	४	२४	३	०	५	८	४
योग	३२	८	४	२०	१	३	७	१४	७

इस प्रकार ऊपर के नक्शे से मालूम होता है कि १६२८–२६ से लगाकर १६३०–३१ तक इन जिलों में फ़ी एकड़ औसत खालिस आमदनी ३२-८-४ से घटकर ७-१४-७ रह गई। चूँकि पंजाब में ५५ फ़ीसदी से भी अधिक खेतियाँ ५ एकड़ से कम की हैं इसलिए १६३०-३१ में वहाँ के अधिकांश किसानों की शुद्ध आय केवल ४० रुपये थी और अगर साधारण कुटुम्ब ५ आदमियों का मान लिया जाय तो एक आदमी की वार्षिक आमदनी ८) रुपये होती है। इन अंकों से भली भांति कल्पना की जा सकती हैं कि पंजाब से निर्धन समझे जाने वाले दूसरे प्रान्तों की क्या हालत होगी।

श्री बाबूराम मिश्र ने कानपुर जिले के एक गाँव की आर्थिक जाँच की है इसमें उन्होंने युक्तप्रान्त की खरीफ़ और रबी फसल की फ़ी एकड़ पैदावार पर खेती के खर्च और पैदावार की क़ीमत का हिसाब लगाया है। इस नीचे लिखे हुए हिसाब से मालूम हो सकता है कि किसान को बहुत ही कम मुनाफ़ा रहता है और उसी पर उसे गुज़र करनी पड़ती है।

	ज्वार का एकड़			गेहूँ का एकड़			चने का एकड़		
सारी पैदावार की	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०
स्थूल क़ीमत	६५	०	०	६६	०	०	२८	०	०
खेती का खर्च	११	६	०	३८	४	०	१७	८	०
लगान	१२	०	०	२०	०	०	१०	०	०
बचा हुआ मुनाफा	४१	०	०	७	१२	०	०	८	०

यह याद रखना महत्व की बात है कि ऊपर का हिसाब १६३०–३१ में लगाया गया था। चूँकि उस समय से भाव बहुत गिर गए हैं इसलिए एक एकड़ पर मुनाफ़े की गुञ्जायश ऊपर के नक्शे में दिखाये गए मुनाफ़े से आधी के क़रीब समझना चाहिए। दूसरी पैदावार का हाल भी इससे कुछ अच्छा नहीं है। हम निर्भर होकर यह मान सकते हैं कि **सारे**

भारतवर्ष को देखा जाय तो तीस फीसदी से अधिक किसानों को आज कुछ भी मुनाफा नहीं होता। असल में किसानों की बहुत बड़ी संख्या ऐसी है जिन्हें पैदावार की स्थूल कीमत से उत्पत्ति का खर्च और लगान मिला कर अधिक देना पड़ता है। भाव इतने घट गये हैं कि उत्पत्ति का खर्च जो आजकल पैदावार को स्थूल क़ीमत का ४० फ़ीसदी के क़रीब हो जाता है उसमें सरकार या ज़मींदार को दिया जाने वाला लगान मिला दिया जावे तो किसान के पास लगभग कुछ भी नहीं बचता। पंजाब के तीन खेतों का जिनमें रिसालेवाला सरकारी खेत भी शामिल है, १६३०–३१ का हिसाब देखकर जो आँकड़े निकाले गये हैं उनसे पता चलता है कि खेती से खालिस आमदनी ज़मींदार को कितनी और किसान को कितनी होती है। इसका नक्शा नीचे दिया जाता है।[1]

१ नहर की सिंचाई के खेत जिन पर १६३०–३१ में बटाई प्रणाली के अनुसार खेती हुई थी।

ज़िला और खेत का आकार	एक एकड़ की स्थूल आय			प्रति एकड़ पर खर्च			प्रति एकड़ पर खालिस आमदनी		
लायलपुर २७ ३/४	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०	रु०	आ०	पा०
ज़मींदार	१७	१४	०	६	१५	६	१०	१४	६
किसान	१७	१३	११	२३	१३	६	५	१५	१०
योग	३५	११	११	३०	१३	३	४	१४	८
लायलपुर रिसालेवाला सरकारी खेत ८०२ १/२ एकड़									
ज़मींदार	२५	३	०	८	७	११	१६	११	१
किसान	२५	७	११	२३	१०	१	१	१३	१०
योग	२५	१०	११	३२	२	०	१८	८	११
मोण्टगोमरी २५ एकड़									
ज़मींदार	२०	१०	६	७	१३	२	१२	१३	४

१. 'इंडिया एनेलाइज्ड' में ब्रजनारायण का निबन्ध देखिए जिल्द दो। पृष्ठ २५।

किसान	१६	१४	८	२३	६	८	३	११	८
योग	४०	०	६	३१	६	१०	६	१	८

इस नक़शे से मालूम होता है कि दो खेतों पर किसानों को कुछ भी मुनाफ़ा नहीं हुआ उल्टे घाटा रहा।

सारी आमदनी पर जमींदारों को फ़ी सदी कितना हिस्सा मिलता है इसका 'पंजाब की खेती के हिसाब' नामक पुस्तक में हिसाब लगाया गया है। ये अंक कई खेतों और अलग-अलग जिलों के बारे में हैं और नीचे के नक़शे में दिये जाते हैं :—

वर्ष	ज़िला	खेत	सारी आय के हिसाब से जमींदार की आय का फ़ी सदी अनुपात
१६२३–२४	लायलपुर	२३२ एकड़	६१.१
१६२५–२६	,,	२८ ,,	६०.६
,,	,,	८८ ,,	६०,६
,,	मोण्टगोमरी	५० ,,	६४.६
,,	,,	१७५ ,,	६१.८
१६२६–२७	लायलपुर	२८ ,,	५३.६
,,	,,	२२८ ,,	६३.४
,,	,,	७६६ ,,	६६,७
,,	मोण्टगोमरी	५० ,,	६७,७
,,	सरगोधा	१३५ ,,	७७.६
१६२७–२८	लायलपुर	२८ ,,	१८८.७
,,	,,	२४० ,,	७२.१
,,	,,	७६६ ,,	६६,१
,,	मोण्टगोमरी	५० ,,	८१.६
१६२७–२८	मोण्टगोमरी	४२½ एकड़	६४.६
,,	सरगोधा	२८ ,,	६७.२
१६२८–२६	लायलपुर	२८ ,,	७३.३

१९२८–२९	,,	७९९ ,,	६३.७
,,	मोण्टगोमरी	२४½ ,,	६२.१
,,	सरगोधा	२८ ,,	७४.६
१९२९–३०	लायलपुर	२८ ,,	७८.७
,,	,,	८०२½ ,,	७०.९
,,	मोण्टगोमरी	३६¾ ,,	६८.०
,,	सरगोधा	२८ ,,	६८.३
१९३०–३१	लायलपुर	२७½ ,,	२२१.७
,,	,,	८०२½ ,,	९०.०
,,	मोण्टगोमरी	२५ ,,	१४०.९
औसत, २७ खेत			८२.४

इस प्रकार जैसा इन २७ खेतों के औसत अंकों से प्रकट है, खुद खेती करनेवाले किसान के पल्ले तो पैदावार का १८ फ़ी सदी भाग भी नहीं पड़ा और ज़मीदार ने ८२ फ़ी सदी हिस्सा ले लिया।

बंगाल के आर्थिक जाँच बोर्ड ने १९३३ में बांकुड़ा, फरीदपुर और पबना ज़िले के कुछ किसान कुटुम्बों के आय व्यय सम्बन्धी आँकड़े इकट्ठे किये थे। उनकी जांच उन कुटुम्बों के बारे में थी जो बंगाल के किसानों में नीचे दर्जे के नहीं समझे जाते। इन आंकड़ों से पता चलता है कि किसानों का पूरी तरह दीवाला निकल चुका है।

बांकुड़ा ज़िले में जिन २५८ कुटुम्बों की जाँच की गई थी उनके बारे में आंकड़े नीचे दिये जाते हैं। १९२८ में ऐसी ही जांच और की गई थी। इन दोनों जांचों के अंकों की तुलना करके यह दिखाया गया है कि मौजूदा आर्थिक उथल-पुथल का क्या परिणाम हुआ है।

	१९२८	१९३३
एक कुटुम्ब की औसत सालाना	रुपये	रुपये
आमदनी	१४६	८६
एक कुटुम्ब का औसत सालाना ख़र्च	२६७	१६९

घाटा	१२१	८३
एक ऋणी कुटुम्ब पर क़र्ज़	२३५	३०४

फ़रीदपुर ज़िले में ४२४ घरों की जांच की गई थी और इसके ये परिणाम निकले :—

	१९२८	१९३३
एक कुटुम्ब की औसत सालाना	रुपये	रुपये
आमदनी	२०७	१०५
एक कुटुम्ब का औसत सालाना खर्च	१९८	११८
घाटा	०	१३
एक कुटुम्ब पर क़र्ज़	१४८	२१७

पबना ज़िले में २९७ कुटुम्बों की जांच हुई थी और उसका नतीजा यह निकला :—

	१९२८	१९३३
एक कुटुम्ब की औसत सालाना	रुपये	रुपये
आमदनी	१७९	७९
एक कुटुम्ब का सालाना खर्च	१४९	८२
एक कुटुम्ब पर औसत क़र्ज़	१०१	१५६

अगर हम यह ध्यान में रखें कि एक कुटुम्ब में साधारणतः लगभग छः मनुष्य होते हैं तो हमें खयाल हो सकता है कि एक आदमी की वार्षिक आय कितनी थोड़ी है। इसमें भी यह बड़ी दुःखदायी बात है कि ये कुटुम्ब ज्यादातर मध्यम श्रेणी के किसानों के समझे जाते हैं।

भारतवर्ष के किसान आमतौर पर आधे भूखे रहते हैं। यह बात इस तरह हिसाब लगाकर सिद्ध की जा सकती है कि हर आदमी कितनी खेती करता है और देश में पैदा होनेवाले अन्न का प्रत्येक मनुष्य को औसत कितना हिस्सा मिलता है। ब्रिटिश भारत के १९३४—३५ साल के खेती के आंकड़ों से पता चलता है कि उस वर्ष ब्रिटिश भारत में १३ करोड़ ७० लाख एकड़ ज़मीन पर दरअसल खेती हुई। अगर हम इस संख्या

में ब्रिटिश भारत की कुल जन संख्या का जो मोटे रूप में २७ करोड़ है, भाग दें तो एक आदमी के पीछे एक एकड़ की खेती का औसत भी नहीं पड़ता।

इसी तरह अगर हम ब्रिटिश भारत की अन्न की सारी पैदावार का जो ५ करोड़ टन के लगभग होती है, असली वज़न लेकर उसे कुल आबादी में बांट दें तो एक आदमी के लिए रोज़ाना एक पाउण्ड से भी कम औसत पड़ता है। अलबत्ता इस हिसाब में निर्यात, पशुओं का चारा और हानि वग़ैरा की उचित गुञ्जायश रख ली गई है। ध्यान रहे कि इन औसतों से इतना ही पता चलता है कि देश के भोजन सम्बन्धी साधन आमतौर पर कितने कम हैं। इनसे यह मालूम नहीं होता है कि भिन्न-भिन्न वर्गों में इस अन्न का वास्तविक बटवारा कितना कम ज्यादा होता है।

इस मोहताज हालत में किसान को विवश होकर साहूकार से रुपया उधार लेना पड़ता है। यह क़र्ज़ उसे ज़मींदार या सरकार का लगान चुकाने के लिए ही नहीं बल्कि अगली फ़सल तक अपने और अपने कुटुम्ब के भरण पोषण के लिए भी लेना पड़ता है और उस पर बेहद ब्याज देना पड़ता है। यही ख़ास वजह है कि पिछले छः सात साल में गांवों पर क़र्ज़ इस बुरी तरह बढ़ गया है।

यह सवाल किया जा सकता है कि ऐसी दशा में भी किसान क्यों अपनी ज़मीन से चिपटा हुआ है। इसका एक ही उत्तर है और वह यह है कि उसके लिए दूसरा कोई धन्धा ही नहीं है। शहरों में घोर बेकारी छाई है और गांवों में मांग से कहीं अधिक मज़दूर मिल जाते हैं। अपने गांव में किसान को कम-से-कम इतना सन्तोष तो रहता ही है कि मैं विरोधी या अनजान सामाजिक वातावरण में नहीं रहता। परन्तु शहर में चले जाने पर तो सम्भव है वह देहाती जीवन की थोड़ी बहुत सुविधायें भी खो बैठे और रोजगार न मिले, सो अलग। इसलिए वह भूख से पैदा होने वाली निराशा के साथ अपने छोटे से जमीन के टुकड़े को छाती से लगाये रहता है। मगर यह बात ध्यान देने लायक है कि बहुत से किसान कुटुम्ब

अपने जवान आदमियों को शहर में भेज देते हैं। वहाँ जाकर वे कमाई करते हैं और प्रतिमास थोड़े से रुपये घर भेज देते हैं। इस रुपये से कुटुम्ब, ज़मींदार या सरकारी अफ़सर को, लगान चुका पाता है।

खेती के मज़दूरों में से अधिकांश के पास जमीन नहीं होती। कृषक-वर्ग का यही सबसे अधिक शोषित अंग है। खेती करनेवाले लोगों की दिन-दिन भरमार होने से इन मज़दूरों की संख्या तेज़ी से बढ़ रही है। यह संख्या १९२१ से १९३१ के बीच में २,१६,७६,००० से ३,१४ ८०,००० हो गई और किसानों की संख्या इसी काल में ७,४६,६५,००० से घट कर ६,११,८०,००० रह गई। ये लोग आम तौर पर नीची जाति के होते हैं और इन्हें मध्यम या सम्पन्नवर्ग के किसान खेत के काम पर रख लेते हैं। कुछ उच्च जाति के ग़रीब किसान भी ऐसे होते हैं जो अपने हाथ से खेती का काम करना सामाजिक दृष्टि से नीचा समझते हैं और इसलिए बोआई और कटाई के दिनों में थोड़े से मजदूर रख लेते हैं। इन मजदूरों की मजदूरी बहुत ही कम होती है। और आज कल अधिकांश भारतवर्ष में १ से ३ आने रोज़ के बीच में दी जाती है। सिर्फ़ कटाई और बोआई के दिनों में जब अधिकसे-अधिक काम रहता है तो पुरुष मज़दूर को चार आने तक दिये जाते होंगे। स्त्री मज़दूरों को शायद ही कभी दो आने रोज़ से अधिक दिया जाता है। कपास बीनने के समय की बात अलग है। उन दिनों स्त्रियां ठेके पर काम करती हैं और एक दो आना रोज़ अधिक भी कमा सकती हैं। यह भी रिवाज है कि मालिक लोग रोज़ या फ़सल के अन्त में मज़दूर को कुछ अन्न दे देते हैं। परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि खेती के मज़दरों को साल में थोड़े ही दिन काम मिलता है। वर्ष में कम-से-कम छः मास उन्हें कुछ भी आमदनी नहीं होती और काम के दिनों की कमाई पर ही गुज़र करना पड़ता है।

भारतवर्ष के कुछ हिस्सों में खेती के मज़दरों की सामाजिक दशा गुलामों से अच्छी नहीं है। इस विषय में गुजरात के हालियों और बिहार के भूमियों की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया जाता है। यह

खेती के मज़दूरों का एक स्थाई वर्ग है। "हाली खेती के वे मज़दूर हैं जो अपनी सुविधा से मज़दूरी पर काम नहीं करते : उन्हें बड़े ज़मीदार पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्थाई नौकरों के रूप में रखते हैं और घर और खाना देते हैं। वे नौकरी छोड़कर और कहीं धन्धा नहीं कर सकते। इन हालियों और गृह-युद्ध से पहले के अमरीकन खेतियों के गुलामों की स्थिति में सिर्फ़ इतना-सा अन्तर है कि इन लोगों के शरीर और परिश्रम पर मालिकों का एकाधिकार अदालतें स्वीकार नहीं करतीं। ये कानून से आज़ाद परन्तु व्यवहार में दास है।" (A study of Rural Economy of Gujrat अर्थात् गुजरात की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का अवलोकन। लेखक—जे० एम० मेहता। पृष्ठ १२५)

देहात के इस आर्थिक सर्वनाश में भी सरकार ने अपनी आर्थिक नीति निर्दयी ही रखी है। हालाँकि १९२८ से किसानों की आमदनी कम से कम ५०-६० फ़ीसदी घट गई है, फिर भी लगान तो लगभग उतना का उतना ही लिया जाता है। लगान मुल्तवी करने और छूट देने में इतनी कंजूसी से काम लिया गया है कि लोगों की व्यापक-दरिद्रता में कोई खास राहत नहीं मिल पाई है। इसके विपरीत लगान की वसूली के लिए सब जगह कठोर उपाय काम में लाये गए हैं। असल में सरकार ने हमेशा किसानों सम्बन्धी परिस्थिति का सामना करने में कड़े शासन का सहारा लिया है। ज़मींदारी इलाक़ों में ज़मींदारों को इस बात की स्वतन्त्रता रही है कि वे पिछले सालों या पिछली फ़सल की बक़ाया के लिए भी किसानों को बेदखल करदें। ज़मींदार लोग नज़राना और इसी तरह के दूसरे अत्याचारों के रूप में जो बाव अबवाब ग़ैरक़ानूनी तौर पर लेते रहे हैं, उनमें कोई कमी नहीं हुई है, और इस बारे में किसानों की रक्षा के लिए सरकार ने कोई कार्रवाई नहीं की है।

इन बातों से यह निस्संदेह साबित हो जाता है कि आज भारतवर्ष के साधारण किसानों की बहुत बुरी हालत है। इस स्थिति से होने वाले

परिणामों का सार अध्यापक के० टी० शाह ने नीचे लिखी पंक्तियों में भली भांति दे दिया है:—

"भारतवर्ष के लोगों को पूरा खाने को नहीं मिलता। इसका नतीजा स्पष्ट और अनिवार्य है। या तो तीन-तीन आदमियों में से एक-एक को भूखा रहना चाहिए। या हरेक को तीन बार के आवश्यक भोजन में से एक बार का भोजन छोड़ देना चाहिए। पिछली बात अधिक आसान है परन्तु उसमें उतनी ही बुराई और हानि है। यह साधारण रिवाज हुए बिना नहीं रहती और इसका परिणाम यह होता है कि लोगों की शरीर-सम्पत्ति और शक्ति दिन-दिन घटती जाती है और उसे पूरा करने के लिए अधिक पैदावार कर सकना और भी कठिन हो जाता है। यह दुष्चक्र पूरा हो गया। तुल्नात्मक दृष्टि से भारतवासियों की शक्ति और योग्यता जाती रही है, क्योंकि उन्हें काफ़ी खाने को नहीं मिलता। वे अपनी कम-से-कम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी पूरी पैदावार नहीं कर सकते, क्योंकि उनमें शक्ति और सामर्थ्य नहीं रहे।"[1]

एक बड़े गोरे अफ़सर डार्लिंग ने पंजाब के कुछ जिलों के किसानों की दरिद्रता के बारे में जो बातें कही हैं वे शेष भारत की नौ दहाई देहाती-आबादी के लिए और भी सच हैं। किसानों के रहन-सहन के तरीक़े की चर्चा करते हुए वह कहता है "यह पचास बरस पहले की माप है। उस समय सब लोग आमतौर पर सीधा-सादा घर में बना हुआ खद्दर पहनते थे, सोने के जेवर क्वचित ही मिलते थे, और बाजरी या गेहूँ के दैनिक भोजन में बहुत कम तबदीली होती थी। आज भी दाल शौक़ की चीज़ समझी जाती है और शलजम और प्याज की तरकारी ही आमतौर पर खाई जाती है। सिवाय उत्सव के या ऐसे मौक़ों के, जब किसी पशु को अपनी मौत मरने से या बीमारी से मरना रोकने के लिए पहले ही मारा जाता है, मांस बहुत कम खाया जाता है। शादी ब्याह में भी आमतौर पर

1 Wealth and Taxable capacity of India. K. T. Shah. P. 252.

चावल से बढ़िया चीज़ की दावत नहीं दी जाती। बकरा और मिठाइयाँ किसान को बहुत प्रिय होती हैं, परन्तु वे बहुत ही कम देखी जाती हैं। भोजन की तरह कपड़ा भी सादा और कम होता है। दो जोड़े शायद ही किसी स्त्री-पुरुष के पास मिलते हों। हाल ही में बुखार की मरी फैली थी, तब पीड़ित गाँव के निवासियों को साफ कपड़े पहनने की ज़ोरदाह सलाह दी गई थी। उनका जवाब यह था, 'हमारे पास तो ये ही कपड़े हैं जो हम पहनते हैं' और यह बात सांधारण किसान ने भी कही और गाँव के पटेल ने भी कही। घर घटिया-से-घटिया चीज़ों के बने होते हैं। उनमें सिर्फ़ आवश्यक सामान होता है। खाने-पीने और रोशनी के, मिट्टी के बर्तन, कूटने-पीसने के लिए ओखली और चक्की, कातने के लिए चर्खा और तकवा, छानने के लिए चलनी और टोकरी और सोने के लिए एक-दो चारपाइयां होती हैं। अन्ध विश्वास खूब फैले हुए हैं और नज़र लग जाने का डर सबको होता है............।"[१]

बंगाल की प्रान्तीय साहूकारी जाँच कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि "किसान की खुराक जेल के भोजन से दस फ़ीसदी अच्छी है।"

बंगाल के सरकारी स्वास्थ्य विभाग ने १९२७-२८ की अपनी वार्षिक रिपोर्ट में स्वीकार किया है कि:—

"अकेले बंगाल में हर साल पन्द्रह लाख आदमी मर रहे हैं। औसत साढ़े सात लाख बच्चे १५ वर्ष के होने से पहले ही प्रतिवर्ष चल बसते हैं। यह सारी मृत्यु-संख्या का लग-भग १५ फीसदी भाग है। चौथाई मौतें ऐसी बीमारियों से होती हैं जो रोकी जा सकती हैं। बंगाल के मौजूदा किसानों की बहुत बड़ी संख्या ऐसी खुराक खाती है जिसे खाकर चूहे भी ५ सप्ताह से अधिक नहीं जी सकते। अपर्याप्त भोजन से उनकी जीवन शक्ति इतनी घट गई है कि वे घातक रोगों की छूत का मुकाबिला नहीं कर सकते। गत वर्ष १,२०,००० मनुष्य हैजे से, ३,५०,००० मलेरिया

1 The Punjab peasant in Prosperity and Debt. M. L. Darling P. 112.

से, ३,५०,००० क्षय से और १,००,००० अंतड़ियों के बुखार से मर गये। औसत ५५,००० नवजात शिशु हरसाल दौरे के शिकार हैं।"

कुछ वर्ष पहले भारत के चिकित्सा विभाग के संचालक सर जान-मेग ने देहाती इलाक़ों की स्वास्थ्य सम्बन्धी अवस्था की जांच की थी। उन्होंने नीचे लिखी चौकाने वाली बातें प्रकट की हैं। यह हिसाब लगाया गया है कि लग-भग एक करोड़ तीस लाख मनुष्य इन्द्रिय-रोगों से पीड़ित हैं, बीस लाख की संख्या क्षयवालों के लिए बहुत थोड़ी है, खराब खाने के कारण साठ लाख आदमियों को रतौंधी की तक़लीफ़ है, लग-भग साठ लाख बिल्कुल अन्धे हैं। अच्छा खाना नहीं मिलने से २० लाख मनुष्यों को अंतड़ियों की बीमारियां रहती हैं, और कम से कम ५ करोड़ हर साल मलेरिया के शिकार होते हैं। यह संख्या आसानी से १० करोड़ के ऊपर जा सकती है। यह भी हिसाब लगाया गया है कि सारे भारतवर्ष को देखा जाय तो ३९ फीसदी लोगों को अच्छा खाने को मिल जाता है, ४१ को घटिया और २० फ़ीसदी को खराब खाना मिलता है। बंगाल में ये संख्यायें क्रमशः २२, ४७, और ३१ हैं। बच्चोंकी मृत्यु संख्या का अनुपात हिन्दुस्तान भर के लिए फ़ी हज़ार २३२.६ है और युक्तप्रान्त के लिए ३०३ है। माताओं की मृत्यु संख्या सारे भारत के लिए प्रति सहस्र २४.५ है और अकेले बंगाल में ५० जितनी बड़ी है। (इंग्लैण्ड और वेल्स में माताओं की मृत्यु संख्या १९३२ में ४.०६ थी)

यह याद रखने की बात है कि जहां इंग्लैण्ड और वेल्स में जीवन का माप ५५ वर्ष का है वहां औसत हिन्दुस्तानी १८८१ में ३० वर्ष और आज कल सिर्फ़ २३ वर्ष जिन्दा रहने की आशा करता है। इंग्लैण्ड से हिन्दुस्तान की मृत्यु संख्या लग-भग २½ गुनी है। इंग्लैण्ड और वेल्स में जहां मृत्यु संख्या ११.७ है वहां हिन्दुस्तान में १९३० में २६.८ थी।

साधारण किसानों की अत्यन्त गिरी हुई शरीर सम्पत्ति और जीवन-शक्ति अकाल और मरी के समय बहुत बुरी तरह प्रकट होती है। अन्दाज लगाया गया है कि १९ वीं सदी की अन्तिम चौथाई में अकाल के कारण

सवा तीन करोड़ आदमी मरे। १९१८ के काले बुखार से एक ही साल में एक करोड़ दस लाख स्त्री पुरुष चल बसे। इन बातों से इस बात का काफ़ी प्रमाण मिल जाता है कि भारतवर्ष में अंग्रेज़ों का राज्य कैसा है। इसने सौ वर्ष से कुछ ही अधिक समय में किसानों की यह दुर्दशा करदी है।

: ३ :

किसानों की कर्ज़दारी

अब हम गांवों की क़र्ज़दारी की तरफ़ ध्यान दे सकते हैं। यह भारत के किसानों की समस्या का एक बड़ा पहलू है।

जब तक हम यह विचार न करलें कि हिन्दुस्तानी किसान की क़र्ज़दारी कैसी और कितनी है, तबतक किसानों की ग़रीबी का पूरा-पूरा ख़याल नहीं हो सकता।

१९३० में प्रान्तीय साहूकारी जांच कमेटियों की जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई हैं उनमें अलग-अलग प्रान्तों की देहाती क़र्जदारी का हिसाब दिया गया है। इस हिसाब को बिलकुल सही तो नहीं समझा जा सकता, परन्तु इससे संसार व्यापी खेती सम्बन्धी उथल-पुथल के शुरू होने से और खेती की पैदावार के भावों की मौजूदा गिरावट से पहले के हालात का लग-भग सच्चा चित्र सामने आजाता है। यह हिसाब नीचे के नक़शे में दिया गया है—

प्रान्त		कुल देहाती कर्ज़दारी करोड़ रुपयों में
बम्बई (सिंध सहित)	...	८१
मद्रास	...	१५०
बंगाल	...	१००
युक्त प्रान्त	...	१२४
पंजाब	...	१३५

मध्यप्रान्त और बरार	...	३६½
बिहार-उड़ीसा	...	१५५
आसाम	...	२२
केन्द्रीय इलाके	...	१८
कुर्ग	...	३५—५५ लाख
बर्मा	...	५०—६०

केन्द्रीय कमिटी ने हिसाब लगाया था कि कुल ब्रिटिश भारत की देहाती क़र्जदारी लगभग ६०० करोड़ रुपये की थी।

कमेटी ने स्वीकार किया है कि सारी शहादत से यह साबित होता है कि अंग्रेजी राज्य में भारत की देहाती क़र्जदारी तेजी से बढ़ी है। इस विचार की पुष्टि में कमेटी ने सर एडवर्ड मैक्लैगन का हवाला दिया है। उसने १९११ में ऐसा कहा था कि "यह तो बहुत पहले से मानी हुई बात है कि क़र्जदारी हिन्दुस्तान के लिए नई चीज नहीं है। मनरो, एल्फिंस्टन और दूसरे लोगों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि हमारे शासन की शुरूआत के समय भी ऋण बहुत था। परन्तु यह भी मानी हुई बात है कि हमारे शासन काल में और ख़ासकर पिछली आधी सदी में क़र्जदारी बहुत बढ़ी है। समय-समय पर जो समाचार मिलते हैं उनसे और बै और रहन की सालाना शहादत से साफ़ जाहिर है कि गत अर्द्ध शताब्दी में क़र्ज में बहुत वृद्धि हुई है।"

देहाती कर्ज १९२१ और १९२९ के बीच में कितनी तेजी से बढ़ा, यह पंजाब कमिटी के लगाए हुए हिसाब से प्रकट होता है। कमिटी का विश्वास है कि पंजाब की कुल ग्रामीण क़र्जदारी १९२२ में ९० करोड़ थी और १९२९ में बढ़ती-बढ़ती १३५ करोड़ हो गई। चूंकि मोटे रूप में इस काल में भाव ५० फीसदी गिर गए, इसलिए कर्ज की वृद्धि का सच्चा भार इन अंकों से कहीं अधिक हो गया। वह लगभग २७० करोड़ रुपये हो गया।

आज तो १९२९ से भी कहीं बुरी हालत है। संसार व्यापी उथल-

पुथल का असर भारतवर्ष के कृषकवर्ग पर इतना गहरा पड़ा है कि इस समस्या पर विचार करनेवाले सभी विशेषज्ञों के ख़याल से १६२६ से १६३७ के बीच के सात वर्ष में ब्रिटिश भारत की कुल देहाती कर्जदारी क़रीब-क़रीब दुगनी हो गई है। इस समय वह लगभग १६ अरब रुपये है। साथ ही, इस अरसे में भावों के बुरी तरह गिर जाने से, जितना इन आंकड़ों से प्रकट होता है, उससे क़र्ज का असली बोझा बहुत अधिक हो गया है।

इस भार के बुरी तरह बढ़ जाने का खास सबब यह हुआ कि जहां १६२६ से किसानों की आय आधी से अधिक घट गई, वहां उन पर लगान का बोझा उतना ही रहा है। पीड़ित प्रदेशों में सरकार ने कहीं-कहीं जो छूट दी है वह बहुत ही कम है और उससे स्थिति में कुछ भी सुधार नहीं हुआ है। ज़मींदारी इलाकों में किसानों के सिर पर मुक़दमेबाज़ी का भार और पड़ गया। किसानों में लगान देने का बिलकुल सामर्थ्य न रहने से बक़ाया बहुत इकट्ठा हो गई और जमींदारों ने उनपर बेशुमार दावे कर दिए। इसका भारी बोझा किसानों पर पड़ा। मुकदमेबाजी के ख़र्च के लिए वर्त्तमान अवस्था में और तो कहीं से रुपया मिल नहीं सकता था। बेचारे किसानों को साहूकार की शरण लेनी पड़ी।

यह स्पष्ट है कि इस भारी क़र्जदारी का कारण किसानों की बहुत थोड़ी आमदनी ही है। क़र्जदारी का बहुत बड़ा भाग इस वजह से है कि ७५ फीसदी से अधिक किसानों को जमीन से पूरा खाने-पीने तक नहीं मिलता। ऐसे मामलों की संख्या बहुत बड़ी है जिनमें माल विभाग के कर्मचारी या जमींदार लगान के रूप में और साहूकार ब्याज और मौजूदा क़र्ज की अदायगी के पेटे साल भर की सारी पैदावार ले जाते हैं। ऐसी हालतमें किसान को पूरी तरह साहूकार पर आश्रित रहना और साल-दर-साल क़र्ज लेकर गुजर करना पड़ता है। अन्त में क़र्जदारी का बोझा इतना बढ़ जाता है कि अगर किसान जमींदार की जमीन बोता है तो

लगान न दे सकने के कारण बेदखल कर दिया जाता है और अगर वह अपनी धरती में खेती करता है तो उसकी जमीन ऋण चुकाने में साहूकार के हाथ में चली जाती है।

इस तरह ग्रामीण-भारत की सबसे विकट समस्याओं में से एक, आज यह क़र्जदारी की समस्या है। भाव इस बुरी तरह गिर गए हैं और क़र्जदारी का बोझा इतनी तेजी से बढ़ा है कि देखकर आश्चर्य होता है। आज हालत यह है कि ८० फीसदी से भी ज्यादा किसानों के पास इस समय जितनी-सी खेती की जमीनें हैं उनसे वे अपना क़र्जा कभी नहीं चुका सकते। इस बीच में ब्याज की जिन ऊंची दरों पर रुपया उधार लिया जाता हैं उन्हें देखते हुए क़र्ज की रक़म बहुत अधिक बढ़ रही है।

साहूकार किसानों का कहां तक शोषण करते हैं इसका अन्दाज ब्याज की दरों और उन ग़ैर-क़ानूनी और राक्षसी युक्तियों से लगाया जा सकता है जो साहूकार लोग क़र्जदारों से अधिक से अधिक रुपया ऐंठने के लिए काममें लाते हैं। ब्याज की दरों की कमी-बेशी का सिलसिला बहुत लम्बा चौड़ा है। अलग-अलग प्रांतों में लिये जानेवाले ब्याज का प्रान्तीय साहूकारी जांच कमेटियों ने पता लगाया है। वही हम नीचे देते हैं।

आसाम में ब्याज की दर १२ से ७५ फीसदी तक होती है। "आसाम में धान उधार दिया जाता है। अगर वह साल के अन्त में न चुका दिया जाय तो मूल और ब्याज को जोड़कर नया खाता लिखा लिया जाता है और २४ या ३७½ फीसदी ब्याज की आगे के लिए लिखावट हो जाती है।"

बम्बई में साधारणरूप में ब्याज की दर १२ और ५० फीसदी के बीच में होती है। सबसे अधिक ब्याज सिंध में लिया जाता है।

बंगाल में अलग-अलग जिलों में कम से कम दर १० से ३७½ फीसदी और अधिक से अधिक ३७½ से ३०० फी सदी होती है।"

बिहार और उड़ीसा में "उड़िया भाषी जिलों में २५ फी सदी और शेष प्रान्त में ५० प्रति सैंकड़ा" ब्याज लिया जाता है।

मध्य प्रान्त में ब्याज की मामूली दर १२ से २४ फ़ी सदी के बीच में होती है। अनाज के ऋण की दर प्रान्त के भिन्न-भिन्न भागों में बहुत भिन्न है और जैसा अनाज लिया जाता है वैसा ब्याज देना पड़ता है। ब्याज की दर २५, ५० या १०० फ़ी सदी भी हो सकती है।

मद्रास में "ब्याज की मामूली दर १२ से २४ फ़ीसदी तक होती है और कभी-कभी २६ या ४८ फ़ीसदी तक पहुंच जाती है......। जमींदार और किसान भी ऐसी शर्तों पर लेनदेन का व्यवसाय करते हैं। आमतौर पर वे चीजें उधार देते हैं। मगर अदायगी की शर्त पदार्थ के रूप में ही होती है। ऐसे कर्जों पर मौसम भर के लिए २५ से ५० फ़ीसदी ब्याज लिया जाता है।"

"पंजाब में अगर काफ़ी सम्पत्ति गिरवी रख दी जाय तो क़र्ज़ पर ब्याज की अधिक दर १३½ फ़ीसदी होती है। बिना गिरवी के क़र्ज़ निर्धन किसान लेते हैं। उनपर ७५ से १५० फ़ीसदी ब्याज लिया जाता है।"

"युक्तप्रान्त में देहाती साहूकार १८ से ३७½ फ़ीसदी के बीच में लेते हैं। क़िस्तवाले आमतौर पर ४४ फ़ीसदी ब्याज लगाते हैं और काबुलियों का ब्याज ७५ से ३०० फ़ीसदी तक होता है[1]।"

क़र्जदारों पर ब्याज की इन भारी दरों का बोझा इस बात से और भी बढ़ जाता है कि अधिकांश साहूकार ब्याज-पर-ब्याज लगाते हैं।

इसके सिवाय साहूकार लोग किसानों के अज्ञान और निरक्षरता से लाभ उठाकर कुछ निहायत बेजा हरकतें करते हैं—इनमें से सबसे साधारण हरकतें ये हैं:—

१. रुपया देते वक़्त साहूकार मूल में से साल भर का सारा ब्याज पहले ही काट लेता है। मगर क़र्ज लेनेवाले से ख़त में पूरे रुपये की रसीद लिखवा लेता है। चूँकि पेशगी लिये हुए ब्याज की साहूकार कोई रसीद नहीं देता इसलिए वह साल भर बाद ब्याज की माँग आसानी से कर सकता है।

1 Cental Banking Enquiry Report Page 78-80

२. बहुत से साहूकार रुपया देने से पहले क़र्ज लेनेवाले से कोरे कागज पर हस्ताक्षर या अंगूठे की निशानी करवा लेते हैं और आगे चलकर अगर क़र्जदार समय पर ब्याज न चुकावे तो असली रक़म से ज्यादा लिख लेते हैं।

३. साहूकारों के लिए यह मामूली बात है कि वे अपने बहीखातों में ऐसी चालबाजियाँ करते हैं जिनसे दी हुई असली रक़म से ज्यादा दिखाई दे।

४. जहाँ क़र्ज लेनेवाला निरक्षर होता है वहाँ खातों में अक्सर दी हुई असली रक़म में से ज्यादा लिखी जाती है।

५. चूँकि बहुत कम साहूकार रसीद देते हैं इसलिए उनके बहीखातों में क़र्जदार को घाटे में रखने वाले ग़लत इन्दराज कर दिये जाते हैं। अक्सर साहूकार ब्याज की मिली हुई कुछ किस्तें तक अपने बहीखातों में लिख लेने का कष्ट नहीं उठाते।

६. क़र्जदारों को सौदा पटाने के लिए कुछ रुपया भेंटस्वरूप देना पड़ता है। इसे गिरह खुलाई अर्थात् थैली का मुँह खोलना कहते हैं।

७. आगे चलकर कहीं रुपया न चुकाया जाय, इसके लिए साहूकार शर्तिया बैनामे लिखवा लेते हैं।

पश्चिम खानदेश के भील प्रदेश में जाल्पा नामक एक साहूकारी प्रथा है। इसके अनुसार जो भील फ़सल से पहले उधार लेना चाहते हैं वे फ़सल पर साहूकार को अमुक मात्रा में अन्न देना स्वीकार करते हैं। बदले में साहूकार उन्हें रुपया उधार देता है। मगर क़र्जदार से उसे जो अन्न मिलने वाला है उसकी क़ीमत बाज़ार भाव से बहुत कम लगाता है। अगर उधार की रकम बड़ी होती है तो साहूकार क़र्जदार की पैदावार बाज़ार भाव से आधी से भी कम क़ीमत में ले जाता है। ऐसे अवसरों पर ब्याज की दर ४०० से ५०० फ़ीसदी तक पहुँच जाती है।

हिन्दुस्तान के कुछ हिस्सों में, खासकर बिहार उड़ीसा में, मध्य-प्रान्त के कुछ पिछड़े हुए प्रदेशों में और युक्त प्रान्त में क़र्जदारी के कारण

आर्थिक गुलामी इतनी बढ़ी हुई पाई जाती है कि उसे लगभग कौटुम्बिक दासता कहा जासकता है। ऐसी अवस्था में अगर क़र्जदार अपना क़र्ज चुकाने में असमर्थ होता है तो या तो साहूकार खुद उसी को बिना कुछ लिए कुछ वर्ष तक अपना काम करने को मजबूर करता या उसी काम के लिए उससे एवजी लेता है। यहाँ पर यह याद रखना महत्व की बात है, कि जायदाद और क़रारनामे के क़ानूनों का विस्तार हो जाने और उनका कठोर पालन होने के कारण ब्रिटिश राज्य में भारत के साहूकारों की स्थिति बहुत मजबूत हो गई है। क़ानून की मौजूदा व्यवस्था में धनी साहूकार क़ानून की रू से अज्ञानी और निर्धन किसान से बहुत आसानी से रुपया ऐंठ सकते हैं। पहले ऐसी बात नहीं थी।

किसानों की इस असाधारण भारी क़र्जदारी का आर्थिक परिणाम भयंकर हुआ है। इस बुरी बात को बहुत लोग जानते हैं कि साहूकार लोग आमतौर पर मूल रकम की अदायगी पर ज़ोर नहीं देते और उस समय तक ब्याज इकट्ठा होने देते हैं जब वे इतने सबल हो जातें हैं कि वे क़र्जदार की सम्पत्ति दीवानी अदालत से अपने नाम करवा लें। इस प्रकार पिछले २५ साल में बहुत-सी जमीन भारतवर्ष भर के छोटे-छोटे किसानों के हाथ से निकलकर साहूकारों के क़ब्जे में चली गई है।

यह महत्व की बात भी समझ लेना चाहिए कि जिन साहूकारों के पास जमीन हैं उनमें बहुत से शहरों में, यानी अपनी जमींदारियों से दूर रहने वाले हैं। वे अपनी जमीनें किसानों को किराये पर दे देते हैं और अपनी सम्पत्ति का प्रबन्ध गुमाश्तों को सौंप देते हैं। गुमाश्ते आमतौर पर बड़े अत्याचारी और खाऊ होते हैं। इस प्रकार जमीन के साहूकारी वर्ग के हाथ में जाने से गांवों में दूर रहने वाले जमींदारों की प्रथा की सारी बुराइयाँ बढ़ रही हैं। खयाल रहे कि पंजाब में भूमि के प्रथक्करण क़ानून (Land Alienation Act) के अनुसार जमीन ग़ैर-काश्तकार लोगों को नहीं दी जा सकती। इस लिए वहाँ धनी जमींदार लेन-देन का विस्तृत व्यवसाय करते हैं और छोटे-छोटे किसानों की जमीनें

इन मालदार किसानों के हाथ में चली जाती हैं। इससे बचने का कोई उपाय नहीं है।

: ४ :

ज़मीन का बन्दोबस्त

ज़मीन के बन्दोबस्त की प्रणाली से जमीन के सम्बन्ध में ख़ास ताल्लुक़ात बन जाते हैं। इनके ढांचे में रहकर ही खेती का कारोबार चलता है। जमीन पर जिस तरह का अधिकार होता है उसीके अनुसार यह तय किया जाता है कि सारी पैदावार का बंटवारा किस प्रकार हो। उसका उत्पत्ति के साधन और कला पर भी जबरदस्त असर होता है। इसके अलावा बन्दोबस्त की अलग-अलग प्रणालियों का अलग-अलग राजनैतिक और सामाजिक महत्त्व होता है। इसलिए भारतवर्ष में जमीनके बन्दोबस्त की जो प्रणालियाँ प्रचलित हैं उनकी जांच कर लेना आवश्यकहै।

मोटे तौर पर, हिन्दुस्तान में जमीन के बन्दोबस्त की प्रणालियों का दो बड़े विभागों में बाँटा जा सकता है, यानी जमींदारी और रैयतवारी।

पहली प्रथा ख़ासकर बंगाल, बिहार, युक्तप्रान्त और उत्तर मद्रास में पाई जाती है। इसमें जमीन के मालिक जमींदार होते हैं। वे अपने इलाके का लगान सरकार को चुकाने के लिए जिम्मेदार होते हैं। जमींदार अपनी जमीन ठेके पर किसानों को दे देते हैं और उनसे लगान वसूल कर लेते हैं। उसका कुछ भाग सरकार को लगान के रूप में चुका दिया जाता है। और बाक़ी जमीन के मालिक की हैसियत से जमींदार खुद रख लेते हैं। सरकार का किसान से कोई वास्ता नहीं होता।

रैयतवारी प्रथा थोड़े बहुत रूपान्तर के साथ शेष सारे भारत में प्रचलित है। इसमें जमीन का मालिक खुद किसान होता है, लगान हर खेती पर अलग-अलग मुकर्रर किया जाता है। और किसान सीधा सरकार में जमा कराता है।

इतिहास की दृष्टि से देखा जाय तो जमींदारी प्रथा हिन्दुस्तान को

अंग्रेजों से मिली है। मुगलों के राज्य में सिद्धान्त रूप में तो जमीन का मालिक पूर्णरूप से राज्य ही होता था परन्तु पैदावार किसान और सरकार या सरकार की ओर से लगान इकट्ठा करने के लिए नियुक्त अधिकारी आपस में बांट लेते थे। इस प्रकार लगान उगाहनेवालों का एक वर्ग था। मगर वे थे राज्य-कर्मचारी, वे राज्य की ओर से काम करते थे और उन्हें एक निश्चित माप के अनुसार वेतन दिया जाता था। जब मुग़ल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हुआ और उसके कारण लगान वसूली का संगठन भी टूट गया तो लगान वसूल करनेवाले लोग अधिकाधिक लूट मचाने लगे और केन्द्रीय सरकार से स्वतन्त्र हो गए। शासन की अव्यवस्था से लाभ उठाकर उन लोगों ने अपना अधिकार पैतृक बना लिया। चूंकि सम्राट और उसके सामन्तों की सत्ता लगभग लगान पर ही पूरी तरह निर्भर थी और लगान की वसूली दिन-दिन कठिन होती जाती थी, इसलिए केन्द्रीय सरकार ने इस लगान वसूल करने वालों को एक प्रकार के जमींदार बन जाने दिया। इन लोगों ने सरकार को अमुक वार्षिक रक़म देना स्वीकार किया और इन्हें किसानों से इच्छानुसार वसूल करने की स्वन्त्रता दे दी गई। इस प्रकार की जमीदारी प्रथा पहले-पहल मुग़ल साम्राज्य में और विशेषतः बंगाल में पैदा हुई और थोड़े ही समय में भारतवर्ष के दूसरे भागों में फैल गई। जैसे-जैसे प्रत्येक प्रान्त की सरकार कमजोर होती गई वैसे-वैसे इन जमींदारों का बल बढ़ता गया।

जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बंगाल की दीवानी हाथ में ली, उस समय इन ज़मींदारों की बहुत बड़ी संख्या थी और इनमें और जमीन के पूरे मालिकों में बहुत कम अन्तर था। लॉर्ड कॉर्नवालिस ने समझ लिया कि इन जमींदारों से खजाने को लगान का रुपया तो बराबर मिलता ही रहेगा, साथ ही इनका एक राजभक्त जमींदार वर्ग भी बनाया जा सकता है। और अंग्रेजों की ही सृष्टि होने के कारण ये लोग विरोधी शक्तियों के मुक़ाबिले में अंग्रेजों के लिए ख़ास सहारे का काम देंगे।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद का इसीमें स्वार्थ था कि किसी भी तरह का राज-

नैतिक खतरा न हो और देश का आर्थिक-शोषण होता रहे । इसलिए उसे ऐसे अमीर जमींदारों की जरूरत थी जो अपनी राजनैतिक और आर्थिक प्रतिष्ठा के लिए नये शासकों पर निर्भर रहें और सार्वजनिक असंन्तोष के मुक़ाबले में एक बाँध का काम दें। इस प्रकार जिन इलाकों पर इन जमींदारों का नियन्त्रण था उनके सम्पूर्ण स्वामित्व का अधिकार उन्हें दे दिया गया और बंगाल के किसानों के हाथ से उनकी जमीन की मिल्कियत का पुश्तैनी हक छीन लिया गया ।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने शोषण के जो साधन मौजूद थे उन्हें क़ायम ही नहीं रखा, बल्कि उनमें वृद्धि भी कर दी। मुट्ठी भर धनी जमीदारों को लाखों किसानों का स्वामी बना दिया गया। किसानों की जमींदारों से रक्षा करने के लिए कोई कानूनी व्यवस्था नहीं की गई । इसलिए इन बेचारों की हालत धीरे-धीरे गुलामों की-सी हो गई। सरकार ने जमींदारों से अपना लगान सख़्ती से वसूल किया और जमींदारों ने किसानों को करों के भार की चक्की में पीस डाला। जमींदार अपने किसान से कहां तक रुपया ऐंठ सकता है इसकी क़ानून में कोई सीमा नहीं बांधी गई। इसलिए जब तक ज़मीदार सरकार का रुपया बराबर चुकाता रहे तबतक क़ानून उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। किसान जमीन के स्वामित्व से ही वंचित नहीं किये गए, बल्कि उन्हें बुरी से बुरी लगान वृद्धि का शिकार भी बना दिया गया। लगान न चुका सकने पर एक साथ बहुत से किसानों को बेदख़ल कर देना मामूली बात हो गई और रुपये की वसूली के लिए कठोर उपाय काम में लाये जाने लगे।

बंगाल में जमीन के स्थायी बन्दोबस्त की प्रथा को जारी हुए १५० वर्ष हो गए, मगर उससे स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ा। असल में बंगाल के किसान १६ वीं सदी से भी आज अधिक दलित और दरिद्र हैं। आसामियों सम्बन्धी क़ानूनों से आसामियों को जरूर थोड़े से अधिकार मिले हैं और सरकारी क्रिया के बिना लगान बढ़ाने की भी मनाई हो गई है। मगर इन पाबन्दियों की जमींदार लोग चालाकी से और निर्भय होकर

अवहेलना करते हैं। वर्तमान स्थिति में जमीन के लिए खूब स्पर्धा चल रही है, लगान सब जगह बुरी तरह बढ़ाया जा रहा है और चूंकि अधिकांश किसान मौजूदा लगान चुकाने में सर्वथा असमर्थ हैं, इसलिए बेदख़लियों का भी खूब जोर है।

जमींदारों के ग़ैर-क़ानूनी करों की कड़ी मार किसानों पर बराबर पड़ रही है, परन्तु बंगाल की जमींदारी प्रथा का शायद सबसे बुरा लक्षण यह है कि हाथों खेती करनेवाले किसान और जमींदार के बीच में आसामियों और उनके आसामियों का एक बड़ा सिलसिला बन गया है। इनकी संख्या दस से तो शायद ही कम होती हो, और कभी-कभी पच्चीस तक भी पहुंच जाती है। इनमें से हरेक किसान की मेहनत से होनेवाली पैदावार में से हिस्सा बँटा लेता है। नतीजा यह होता है कि सारी पैदावार का बहुत ही छोटा-सा भाग किसान के पल्ले पड़ता है। हिसाब लगाकर देखा गया है कि किसान जितना लगान देता है उसका ५५ से ७५ फ़ी सदी तक हिस्सा जमींदार और दूसरे बीच के आदमियों के पास रह जाता है। जिस प्रथा में ज़मींदार अपनी ज़मीदारियों से दूर रहते हैं, उसमें अनेक बुराइयाँ हैं, गुमाश्ते लोग ज़ालिम और भ्रष्ट होते हैं और इस प्रकार अनाचार खूब फैले हुए हैं।

युक्तप्रान्त और मद्रास की ज़मींदारी प्रथा भी उसी लगान वसूल करने वाले लोगों के वर्ग से निकली और सरकार की नीति भी बंगाल सरीखे राजनैतिक और आर्थिक विचारों से ही प्रेरित हुई। परन्तु जमींदारी प्रथा की बुराइयाँ सब जगह एक-सी ही हैं। बंगाल की तरह युक्तप्रान्त में भी आसामी क़ानून (Tenancy Act) से जो थोड़ा-सा संरक्षण आसामियों को मिला है, उसकी खुलेतौर पर अवहेलना की जा रही है और बड़े पैमाने पर बेदखलियां करना और मनमाने ढंग पर लगान बढ़ा देना मामूली बात हो गई है। युक्तप्रान्त की नई शासन रिपोर्ट के अनुसार आगरा टेनेन्सी एक्ट की रू से जहाँ १६३३-३४ में १,६५,४६४ नालिशें और बेदख़लियाँ हुई थीं वहां १६३४-३५ में उनकी संख्या १,७१,

५,७४ हो गई। "पिछले वर्ष के मुक़ाबिले में मुकद्दमों की संख्या ७६,३१२ से ७६,६५५ हो गई और जिस क्षेत्र में बेदख़लियाँ हुईं उसका विस्तार २,१४,००० एकड़ से २३,१७,४४० एकड़ हो गया।" रिपोर्ट में आगे चलकर कहा गया है कि, "इस वृद्धि का कारण यह है कि जिन जमींदारों की स्थिति सविनय अवज्ञा आन्दोलन के खत्म हो जाने से संभल गई है उन्होंने लगान न देने पर बेदखली के जाब्ते को अधिक काम में लाना शुरू कर दिया है और जिन लोगों के पास कई कारणों से पट्टे के बिना भी जमीनें थीं उनसे पिण्ड छुड़ाने के लिए ४४ वीं धारा की व्यापक शर्तों से लाभ उठाया है।" "अवध रेण्ट एक्ट की रू से होनेवाली नालिशों और दरख्वास्तों की संख्या ७०, ०६५ से ७७,४१३ हो गई। सबसे अधिक वृद्धि ८,१८१ नालिशों और बेदख़ली या बेदख़ली की सहायता की दरख़्वास्तों में हुई।" लगान की वसूली के लिए जमींदार कठोर से कठोर दमन के उपाय काम में लाते हैं। बक़ाया की वसूली के लिए जमींदार और उनके कारिन्दे अत्यन्त दरिद्र किसानों को महंगी मुकद्दमेबाजी में घसीटते हैं। लगान न चुकाने के मामलों में आसामी क़ानून ने किसानों के मुक़ाबले में जमींदारों के हाथ में बड़े विस्तृत अधिकार सौंप दिये हैं।

युक्तप्रान्तों में जमीदारों के लिए किसानों से सरकारी तौर पर दिखाये जानेवाले लगान से कहीं अधिक लगान ले लेना कोई असाधारण बात नहीं हैं। इसके अलावा कई दूसरी ग़ैर क़ानूनी लागें भी ली जाती हैं। युक्त प्रान्त के माल विभाग के एक बड़े अफसर का यह बयान ध्यान देने योग्य है। "यह याद रखना चाहिए कि कड़ा शब्द न कहकर नरम शब्द ही कहा जाय तो बाव अबवाब अलग-अलग तरह के हैं और इनकी उत्पत्ति भी अलग-अलग ढंग से हुई है। मौजूदा अबवाब की वृद्धि और नये अबवाब की सृष्टि कभी-कभी अजीब तौर पर हुई है। उदाहरण के लिए, एक पूर्वी जिले के एक बड़े जमींदार का लड़का जब गाँव में ग्रामोफोन लेकर घूमा तो बाप ने उसी नाम का बाव वसूल कर लिया।······घर बनाने, पेड़ लगाने और कुआं खोदने यानी अपनी खेती को सुधारने की रिआया पर

नजराना देने की प्रथा शायद अभी कुछ समय तक जारी रहेगी और जब तक यह उचित मर्यादा के भीतर रहेगी तब तक उस पर आपत्ति भी नहीं की जायगी। भूसा, गन्ना, पयाल आदि पर बाव लेना सिद्धान्त की दृष्टि से बेजा है—इन वर्षों में इसका अमल और भी बेजा रहा है—और जहां पहले यह हर किसान से बहुत थोड़ा लिया जाता रहा है वहां अब यह बहुत बढ़ा दिया गया है।...इससे भी कम मुनासिब अबवाब हैं जो बड़े-बड़े जमींदार लेते हैं। उनमें हम देखते हैं, यह आशा रक्खी जाती है कि जमींदार के कुटुम्ब में ब्याह शादी होने पर आसामी उसे कच्चा एक मन गेहूँ दे और हर मौसम में एक दिन ज़मींदार की सीर ज़मीन को मुफ़्त जोते। इन अनियमित करों में गाँव के ग़ैर-काश्तकार बाशिन्दों को भी अपना-अपना हिस्सा देना चाहिए। चमार दो जोड़े जूते, गड़रिया एक कम्बल, पासी—जो आमतौर पर गाँव का चौकीदार होता है—एक बकरा, और कहार प्रति तालाब एक मन सिंघाड़ा हर साल देता है। तेली, भड़भूजा और जुलाहा बारह आने से डेढ़ रुपये तक अलग-अलग सालाना रक़में देते हैं। यह देखते हुए कि इनमें अधिकांश लोग जितना कमाते हैं उतना खा जाते हैं, ये कर लेना ज्यादती मालूम होती है। अब समय आ पहुँचा है कि ज़मींदार यह समझ लें कि लगान के अलावा दूसरे अबवाब लेना समय के विपरीत बात है और इसलिए ऐसा करना बन्द कर देना चाहिए।[1]"

यह बाव अबवाब की पूरी सूची हर्गिज नहीं है। 'मोटराना' और 'हाथयाना' जैसे कई अजीब-अजीब अबवाब और हैं जिनके अनुसार हर आसामी को ज़मींदार के मोटर या हाथी रखने के ख़र्च के लिए कुछ-न-कुछ देना पड़ता है। अपनी बेकार और रद्दी जायदाद को ठिकाने लगाने के लिए लाटरी डालना और उसमें अपनी आसामियों को ज़बरदस्ती शामिल करना भी जमींदारों के लिए मामूली बात है।

1. History & Status of Landlords and Tenants in the United Provinces by S. N. A. Jaffari P. P. 131-132

रैयतवारी प्रथा में भी किसान की हालत इससे शायद ही कुछ अच्छी हो। खेती पर गुजर करने वाले लोगों की संख्या जरूरत से ज्यादा बढ़ती जा रही है और इस कारण जमीन के टुकड़े होते चले जा रहे हैं। आमतौर पर दरिद्रता और कर्जदारी बढ़ रही है और जमीन के मालिक किसानों की संख्या बराबर घट रही है! मुट्ठी भर लोगों के हाथ में जमीन चली जा रही है। छोटे किसानों की सम्पत्ति साहूकार या बड़े किसानों के क़ब्जे में चली जा रही है और इसका परिणाम यह हो रहा है कि जमींदारी प्रथा में ज़मींदार लोगों का जो काम है, वही काम करने के लिए रैयतवारी प्रथा में भी मालदार किसानों का एक प्रबल वर्ग पैदा हो गया है। यह याद रखना महत्व की बात है कि जो पंजाब मालिक किसानों की भूमि समझा जाता है वहाँ साठ फ़ीसदी से भी ज्यादा ज़मीन की खेती नक़द या पैदावार के रूप में लगान देने वाले आसामी लोग करते हैं।

हाल ही में कांग्रेस की नियुक्त की हुई एक कमेटी ने महाराष्ट्र के किसानों की हालत की जांच की थी। उसकी रिपोर्ट में कहा गया है कि "बीच के हल्के में ८० फ़ीसदी जमीन के मालिक २६ फ़ीसदी किसान हैं। हमारी अपनी जाँच से मालूम हुआ है कि अधिकांश गाँवों में ४-५ बड़े-बड़े खातेदारों के बीच में कम-से-कम ५० फ़ीसदी से भी अधिक गाँव की जमीन बंटी हुई है। ये ऊपरवाले लोग नीचेवाले छोटे-छोटे किसानों को अपनी जमीन किराये पर दे देते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रैयत-वारी प्रदेशों में जमींदारी है और किसानों में भारी बहुमत के लिए किराये की समस्या मौजूद है।" आगे चलकर रिपोर्ट में कहा गया है कि "नये जमींदारों और उनके आपस का सम्बन्ध बिलकुल ठेकेदारी का होने के कारण राज्य ने दुर्बल पक्ष की रक्षा के लिए अभी तक कोई नियम बनाने की बात सोची नहीं है।"

यह बात अच्छी तरह जानी हुई है कि जमींदारी इलाक़ों में जमींदार लोग जितने अत्याचारी होते हैं उतने ही उनके रैयतवारी भाई-बन्द भी होते हैं। पंजाब के बड़े जमींदारों की चर्चा करते हुए डार्लिंग साहब कहते

हैं "कहा जाता है कि सिर्फ ५ फ़ीसदी जमींदार ही ऐसे हैं जो अपने आसामियों पर किसी-न-किसी तरह जुल्म नहीं करते। बाकी के जमींदार आसामियों के खेतों में अपने घोड़े छोड़ देते हैं, अपने मिहमानों के सत्कार के लिए उनके मुर्गे-मुर्गी पकड़ लेते हैं या जो भले आदमी गाँव छोड़कर चले जाते हैं, उन्हें मुक़दमें लगाकर इतना तंग किया जाता है कि बेचारे विवश होकर लौट आते हैं।" चूँकि रैयतवारी इलाक़ों में आसामी-कानून नहीं होते, इसलिए बड़े-बड़े जमींदारों को बेदखली और लगान वृद्धि के मामले में आसामियों पर असीम सत्ता होती है। कुछ रैयतवारी प्रदेशों में तो लगान वृद्धि का रोग ज़मींदारी इलाक़ों से भी बुरा है। रैयतवारी प्रदेशों में बड़ा ज़मींदार अकेला ही जुल्म करनेवाला होता है, बीच का आदमी नहीं होता, साहूकार का बल भी वहाँ बहुत साधारण होता है। आँकड़ों से मालूम होता है कि ज़मींदारी इलाकों से रैयतवारी प्रदेशों में किसानों की क़र्ज़दारी बढ़ी हुई है। इसका एक कारण तो यह है कि बहुत थोड़ी आमदनी होने से ज़मीन के छोटे-छोटे मालिक थोड़ी पूँजी और खर्च करके अपनी ज़मीन को अच्छी बनाने की खूब कोशिश करते हैं। दूसरा कारण यह है कि ये लोग साहूकार के पास अपनी ज़मीनें गिरवी रख सकते हैं और इसलिए उन्हें उधार मिलने की अधिक सुविधा है। परन्तु चूँकि वे अपना क़र्ज़ या उसका सालाना ब्याज तक जमा कराने में बिलकुल असमर्थ हैं इस लिए हर साल उनके ज्यादा-ज्यादा खेत साहूकारों के हाथ में चले जा रहे हैं और, साहूकार तो अपनी खेतियों से दूर रहने वाले ज़मींदार होते हैं।

ज़मींदारों के बुरी तरह किराया बढ़ाने और क़र्ज़दारी की समस्याओं के अलावा सरकारी लगान की ज्यादती का भी बड़ा सवाल है।

तत्वतः सरकारी लगान का अनुपात अवनतिकारक है यानी जितना ग़रीब किसान उतना ही उसपर कर का भार अधिक पड़ता है। चूँकि ग़रीब और अमीर किसानों को एक-सा लगान देना पड़ता है और उसमें हर किसान की कुल आमदनी के हिसाब से सीधी कमी-बेशी नहीं होती, इसलिए

जिनमें कम-से-कम देने का सामर्थ्य होता है उन्हीं पर सबसे भारी बोझा पड़ता है। इस प्रकार रैयतवारी इलाक़ों के अधिकांश किसान सरकारी लगान के बोझ से पिसे जा रहे हैं।

संक्षेप में रैयतवारी प्रदेश के किसानों की तीन बड़ी शिकायतें हैं।

१. जमीन शुरू के छोटे-छोटे मालिकों के हाथ से निकल कर धीरे-धीरे खेती न करनेवाले साहूकार और बड़े जमींदार वर्ग के हाथ में चली जा रही है।

२. क़र्जदारी का भार बहुत बढ़ गया है।

३. सरकारी लगान बहुत ज्यादा है, सख़्ती से वसूल किया जाता है और जमीन के छोटे-छोटे मालिकों के लिए बहुत भारी पड़ता है।

सारी समस्या में सबसे मुश्किल बात यह है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारतीय खेती को पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के मैदान में तो ला पटका, मगर इस तरह पटका कि किसान के लिए भावी-सम्पन्नता के सारे रास्ते बन्द हो गए। संसार-व्यापी स्पर्धा के पूँजीवादी वायुमण्डल में किसी की खैर नहीं है। उसके साथ वास्ता होने के कारण जमीन के बन्दोबस्त की, क्या जमींदारी और क्या रैयतवारी, दोनों प्रथाएं समय के सर्वथा प्रतिकूल हैं। पहली बात तो यह हुई कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने राज्य और असली किसान के बीच में मुफ़्तख़ोर बीच के आदमियों का एक प्रबल वर्ग खड़ा कर दिया। धीरे-धीरे इन लोगों की संख्या बढ़ गई और इन्होंने किसान के हाथ में पूंजी इकट्ठी ही नहीं होने दी। इस कारण भारतीय किसानों के पास पिछड़े हुए और साहसहीन बने रहने के सिवाय कोई मार्ग ही नहीं रह गया। इस प्रकार किसानों के सारे मौजूदा आर्थिक कष्टों का कारण यह है कि भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पदार्पण के बाद ऐतिहासिक घटनाचक्र ही एक खास तरह का चल गया।

उपसंहार

पिछले पन्नों में हम देख चुके हैं कि खेती पर गुज़र करनेवाली आबादी कितनी बढ़ रही है, ज़मीन के कितने बटवारे और छोटे-छोटे टुकड़े हो रहे है। किसानों की दरिद्रता कितनी भयंकर हो चली है, गाँवों की क़र्ज़दारी में कितनी ज़बरदस्त वृद्धि हो गई है और ज़मीन के बंदोबस्त की प्रणालियों के कारण किस तरह बीच के आदमियों का एक वर्ग का वर्ग पैदा हो गया है और हाथों खेती करनेवाले किसानों के सिर पर कितना भारी बोझा पड़ रहा है। हमें यह भी मालूम हो गया है कि हमारी मौजूदा किसान समस्या असलमें उस ऐतिहासिक घटनाचक्र का ही परिणाम है जो भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य के आने के बाद चला है। हमारे पास इतना स्थान नहीं है कि किसान समस्या को हल करने के लिए जो अलग-अलग उपाय बताये गए हैं उनपर विस्तार से चर्चा की जा सके। हम सिर्फ़ इसी बात पर ज़ोर देना चाहते हैं कि चूँकि इस समस्या का सम्बन्ध ठेठ ब्रिटिश साम्राज्यवाद के भारतवर्ष में क़ायम होने के साथ है, इसलिए छोटे-मोटे और अलग-अलग आर्थिक उपायों से काम नहीं चल सकता। और अगर हम वर्तमान परिस्थिति में काम करनेवाले राजनैतिक तत्वों का लिहाज़ नहीं रखेंगे तो हमें सफलता नहीं मिल सकती। इस देश में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कायम होने से खास तरह के आर्थिक और राजनैतिक सम्बन्ध बन्ध गए हैं। इन सम्बन्धों के कारण जो प्रणालियाँ पड़ गई हैं उन्हींसे मौजूदा किसान समस्या पैदा हुई है। इसलिए जब तक इन सम्बंधों में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हो जाता तबतक किसानों की हालत में कोई बड़ा सुधार नहीं हो सकता।

ज़मीन पर जो बुरी तरह आबादी बढ़ रही है, उसका भार हल्का करने के लिए एकमात्र उपाय यह सुझाया जाता है कि बड़े पैमाने पर उद्योग-धन्धे जारी किये जायं। ज़रा इस पर विचार करें। क्या उद्योग-धन्धों के विस्तार की चर्चा इस योजना के राजनैतिक फलितार्थों को अलग रखकर

की जा सकती है ? क्या साम्राज्यवादी अर्थ-व्यवस्था के ढांचे में रहकर देश में बड़े पैमाने पर उद्योग फैलाना सम्भव है ? हमें मालूम है कि किस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने पुरानी दस्तकारियों का नाश किया था और किस तरह आज भी भारतवर्ष को जान बूझकर ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चे माल का साधन और ब्रिटिश माल के लिए ही एक बाज़ार बनाकर रखा जा रहा है। हम यह भी जानते हैं कि देश में नये उद्योगों का प्रचार बहुत नगण्य हुआ है और जो थोड़ी सी सफलता हुई भी है तो वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद की मर्ज़ी के खिलाफ़ मिली है। भारत-सरकार की विनिमय सम्बन्धी चालों और चुँगी और दूसरी आर्थिक व्यवस्थाओं का एकमात्र उद्देश्य यह है कि किसी तरह भारतवर्ष को औद्योगिक दृष्टि से जितना पिछड़ा हुआ रखा जा सके, रखा जाय, क्योंकि उद्योगवादी भारतवर्ष में ब्रिटिश कारखानों की मौत समाई हुई है। इस तरह वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था में देश की उद्योग-वृद्धि की बात करना स्थिति की वास्तविकता से आँख बन्द कर लेना है।

परन्तु भारतवर्ष, साम्राज्यवाद को मज़बूत करके, भारतीय-उद्योग के लिए आर्थिक रिआयतें प्राप्त करले तो भी उद्योग विस्तार की गुन्जायश यहाँ थोड़ी होगी। यह इसीलिए कि चूँकि भारतीय उद्योग का मुख्य बाज़ार भारतवर्ष में ही होगा, इस कारण जबतक किसानों की खरीद करने की शक्ति काफी न बढ़ जाय तबतक उद्योग-विस्तार सफल नहीं हो सकता। परन्तु जबतक ज़मीन सम्बन्धी क़ानूनी और आर्थिक व्यवस्था में किसान के हक़ में परिवर्तन नहीं हो जाता तबतक किसान की हालत में बड़ा सुधार नहीं हो सकता। परन्तु ब्रिटिश साम्राज्यवाद का स्वरूप ही ऐसा है कि वह इन मौलिक बातों को छू तक नहीं सकता। ज़मींदार और साहूकार वगैरा बीच के लोगों के दल-के-दल बन गए हैं। इनके हाथ में आर्थिक और क़ानूनी बल है। ये ही किसानों के हाथ में पूँजी इकट्ठी नहीं होने देते और ये ही प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में खेती की वर्तमान अवनति के लिए ज़िम्मेदार हैं। ये ही भारत में साम्राज्यवाद के मुख्य सामाजिक सहारे हैं।

यह याद रखने की बात है कि शाही कृषि कमीशन ने भारत के किसानों के और सब हालत की तो जांच की मगर उसने भारतीय किसानों के सारे कष्टों की जड़, जमीन के बन्दोबस्त की समस्या पर विचार तक नहीं किया। कमीशन के काय-क्षेत्र में जमीन के स्वामित्व का प्रश्न शामिल नहीं रक्खा गया। इस सम्बन्ध में यह आदेश दिया गया था कि "कमीशन के कर्तव्य की मर्यादा मे यह बात नहीं होगी कि वह जमीन की मिल्कियत, आसामी-व्यवस्था; लगान की दरबन्दी और और सिंचाई के लगान के बारे में कोई सिफारिश करे।" आसामियों के सम्बन्ध में जो अलग-अलग कानून बने हैं उनसे जमींदारों में कोई खास अन्तर नहीं पड़ा है। सरकार ने किसानों को साहूकारों से कुछ-कुछ बचाने के लिए थोड़े से कानून बनाये हैं। जैसे Deccan Agriculturist's Relief Bill (1878) Usurious Loans Act (1918) Punjab Land Alienation Act (1901), Punjab Regulation of Accormer Act (1930) वगैरा वगैरा। मगर इनसे ऋणी और ऋणदाता के मूल-कानूनी सम्बन्ध में कोई फर्क नहीं पड़ा है। इस प्रकार यह निर्विवाद है कि जबतक साम्राज्यवाद के आधार-स्वरूप मौलिक आर्थिक और राजनैतिक सम्बन्ध नहीं बदल जाते तबतक उद्योगों का विस्तार नहीं किया जा सकता, भले ही कृषि के पुनर्सङ्गठन में उसका कितना ही बड़ा महत्व हो।

अब जरा सहयोग पर ध्यान दें। सरकार कहती है कि इसी उपाय से देहाती कर्जदारी की समस्या मुख्यतः हल होगी। हम जानते हैं कि सहयोग आंदोलन को शुरू हुए लगभग ३० वष हो गए, मगर इसकी प्रगति इतनी मंद और कम हुई है कि इसकी निरर्थकता मानी हुई बात है। सर एम० विश्वेश्वरैया की राय में "जो कुछ हुआ है उसे सिर्फ ऊपर से कुरेदना कह सकते हैं।" जब किसानों की अच्छी हालत के दिनों में ही सहयोग आन्दोलन सफल या काफी लोक-प्रिय नहीं हुआ तो उथल-पुथल के बाद अब तो होना और भी कठिन है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि अधि-

कांश किसान इतने मुहताज हैं कि उनके पास इस आन्दोलन से फायदा उठाने के भी साधन नहीं है। सहयोग आन्दोलन से इतना-सा काम हुआ है कि गाँवो के सम्पन्न लोगों की कुछ पूँजी एक जगह जमा हो गई और उन्हींको इससे लाभ पहुँचा। आम किसानों को तो अब भी साहूकारों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। उनके पास अपने शरीर के सिवाय और कुछ जमानत भी नहीं होती कि वे कर्ज ले सकें। इसलिए वे इस आन्दोलन से अलग ही रहते हैं।

भारतवर्ष में सहयोग के इतिहास से मालूम होता है कि सहयोग ने अधिक से अधिक इस बात का प्रयत्न किया है कि साहूकार की कठोर उधार पद्धति के बजाय सुगठित कर्ज की प्रथा कायम हो जाय। परन्तु उसने देहाती कर्जदारी की समस्या के मर्म को नहीं छुआ और इसलिए किसानों के कष्ट में कोई खास कमी नहीं हुई। अगर हम किसानों की कर्जदारी की सारी रकम को खेती की कुल पैदावार के वार्षिक मूल्य में मिलाकर देखें तो हमें पता चलेगा कि अगर सारा मूल्य साहूकारों को दे दिया जाय और सब किसान एक लम्बे अर्से तक भूखों मरते रहें तो भी उनका कर्ज चुकाने में कई वर्ष लग जावेंगे। इसका कारण यह नहीं माना जा सकता कि सहयोग समितियों के आन्दोलन से गाँवों की कर्जदारी और साहूकारों को हटाने की समस्या अच्छी तरह हल हो जावेगी।

खेती की पैदावार के साधनों का सुधार करने की समस्या पर ध्यान दिया जाय तो मालूम होता है कि इसके लिए जो खास उपाय सुझाये गए हैं, वे हैं तो अच्छे, परन्तु जिन मौलिक सामाजिक और आर्थिक तत्वों के बने हुए ढांचे के भीतर खेती की पैदावार होती है उन तत्वों से अलग रहकर ये उपाय कुछ भी काम नहीं दे सकते। उदाहरण के लिए, खेती के संगठन यानी सामूहिक खेती का सवाल जमीन के स्वामित्व सम्बन्धी अधिकारों की पुनर्रचना से अलग नहीं किया जा सकता। खेती के सामान के सुधार का सवाल यानी अच्छे औजारों, कृत्रिम खाद और अच्छे मवेशियों का सवाल किसानों के हाथ में पूँजी इकट्ठी होने के सवाल के साथ